संस्कृति का अर्थ

डॉ. प्रमोद कुमार दुबे

वर्तमान तकनीकी विकास के दौर में — जब भाषाओं के अस्तित्व पर संकट छाया हुआ है, शब्दों के पारंपरिक अर्थ पर संकट क्यों नहीं आ सकता। फिर भी कुछ शब्द बड़े महत्व के होते हैं। उनका पर्याय नहीं होता, अनुवाद नहीं होता। उनके निजी अर्थों में देश-समाज के बौद्धिक इतिहास का सार छिपा होता है। उनकी रक्षा अवश्य करनी पड़ती है। यदि उन्हें अनुवाद के हाथों में सौंप कर आगे बढ़ने का प्रयास किया जाए तो जड़हीनता का आरोप कलंकित कर देता है। संस्कृति इसी स्तर का महत्वपूर्ण शब्द है। इसका कोई अनुवाद नहीं हो सकता। संस्कृति शब्द के बारे में भ्रांति फैली हुई है कि ''यह भारतीय परंपरा का शब्द नहीं'' है। यह न मोनियर विलियम्स के संस्कृत शब्द कोश में है और न वी.एस. आप्टे के। इन कोशकारों की भूल की तुलना में बड़ी भूल है—संस्कृति को अंग्रेजी के कल्चर का अनुवाद बताने की भूल।

संस्कृति को लौकिक संस्कृत का शब्द मान लें, तब भी उसकी विशेषताएँ 'कल्चर' की सीमा में नहीं अँट सकती। सम् और कृति के योग से संस्कृति शब्द बनता है। पाणिनी के नियमानुसार सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से भूषण अर्थ में सुट् के आगम और क्तिन् प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द बनता है। सम्+कृति=संस्कृति-इस अन्वय में सम्गति का द्योतक है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण उपसर्ग है। निरुक्तकार यास्क ने सम् को सर्वव्याप्त के अर्थ में लिया है-समित्येकी भाव (1.3.15 निरुक्त) की कृति संस्कृति है। बिना समेकित भाव के संस्कृति नहीं होती है। सम् उपसर्ग इतना विराट है कि गीता में—'समोऽहं सर्वभूतेषु', 'निर्दोष हि समंब्रह्म'-मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ', 'सम् ब्रह्म के समान निर्दोष' जैसे कथन मिलते हैं।

संस्कृति मूलत: वैदिक शब्द है। यजुर्वेद के सातवें अध्याय के चौदहवें मंत्र में संस्कृति शब्द आया है—''सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'—विश्व मानव द्वारा वरण करने योग्य यह पहली सर्वोत्कृष्ट संस्कृति है। वैदिक मंत्रों में आये शब्द मंत्र के छन्द से भी संबंधित होते हैं। छन्द से ज्ञात होता है कि यह शब्द किस स्तर के लिए प्रयुक्त हुआ है। उद्धृत अंश विराट जगती छंद में व्यक्त हुए मंत्र से लिया गया है। प्रमुख सात वैदिक छन्दों में अन्तिम छंद जगती है। इस छंद में सम्पूर्ण जगत समाया हुआ है। इस छंद के अन्तर्गत अति जगती एक प्रकार है, इसमें 'विराट जगती' आता है अतिजगती छन्द के अन्य उपभेद हैं—कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, और संस्कृति। इन्हीं छन्दों से लौकिक संस्कृत के छन्द, विकसित हुए। संस्कृति केवल शब्द नहीं, एक छन्द भी है। वैदिक छंदों में ध्वनियाँ निर्धारित संख्या में होती हैं और इनके आधार पर ज्यामितिक आकार भी बनते हैं। वैदिक स्रोत से संस्कृति शब्द के गहरे अर्थों को शतपथ (8-4-1), और ऐतरेय (6-5-1) ब्राह्मण ग्रंथों में देखा जा सकता है। सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि संस्कृति का वैदिक अभिप्राय सृष्टि-यज्ञ से जुड़ा हुआ है और समाज को प्रेरित करने वाले आदर्शों से भी।

संस्कृति की सीधी समझ के लिए भारतीय शास्त्रीय संगीत में घटित होने वाली रागों के निर्माण की प्रक्रिया सहायक हो सकती है। शास्त्रीय संगीत में काल के अनुसार राग गाए जाते हैं। इसका अर्थ है कि काल के अनुसार प्राकृतिक वातावरण के स्वभाव में परिवर्तन होता है। इसके साथ मनुष्य के मनोभाव भी बदलते हैं। प्रकृति और मानुषी प्रवृत्ति में कोई न कोई अन्तर्सम्बन्ध है। दैनिक और वार्षिक काल परिवर्तनों में भी संबंध है। रागों का गायन दैनिक और वार्षिक काल परिवर्तनों को ध्यान में रखकर किया जाता है। जैसे सुबह के लिए भैरवी है तो वर्षा ऋतु के लिए मल्हार। प्रकृति में अपना छन्द है, अपना लय-ताल और सम। इसके साथ जब मनुष्य के मन-प्राणों के छन्द, लय और ताल जुड़ जाते हैं, आनंद आने लगता है। संगीत में लय और ताल जिस बिन्दु पर मिलते हैं उसे सम् कहा जाता है। प्रकृति के अन्तर्संगीत और मनुष्य के संगीत दोनों एक सम पर मिलें, इसी के प्रयास में प्रकृति के काल का अनुसरण गायन में किया जाता है। सम् के केन्द्र पर आयोजित होने वाली क्रियाएँ संस्कृति बन जाती हैं।

विभिन्न क्षेत्रों के लोक धुनों में प्रकृति-भेद से अन्तर होता है। पहाड़ों में गाए जाने वाले गीतों के धुनों में पाँच स्वर प्रमुख होते हैं। इन स्वरों को सप्तक में व्यवस्थित करके शास्त्रीय राग पहाड़ी बना है। इस तरह प्रकृति से सीधे जन मानस के आवेग में उतरे हुए सांगीतिक स्वरों को सुव्यवस्थित करके अनेक शास्त्रीय राग बने हैं। जैसे जौनपुरी, मुल्तानी, पूरबी, भटियाली, सोरठा इत्यादि, ये उत्तर प्रदेश, पंजाब,

बिहार, बंगाल, सौराष्ट्र के अंचलों के लोक धुनों से विकसित हुए हैं। प्राकृत स्वरों को संस्कारित करके राग बनाने का कार्य इन दिनों भी होता है। पर, यह कार्य कोई समर्थ गायक ही कर सकता है। क्योंकि लोक धुनों में कभी आधे तो कभी चौथाई सप्तक ही होते हैं। इन आधे-अधूरे स्वरों को पूरे राग में विकसित करना कठिन कार्य होता है। इन दिनों भी लगन गंधार जैसे सिद्ध गायक ने मालवा क्षेत्र की लोकधुनों से मालवती राग की रचना की, अलाजिलाबाई ने राजस्थान के मांड को राग बनाया, गिरिजा देवी ने चैती और कजरी को लोक के प्राकृत रूप से उठाकर शास्त्रीय रागों के स्तर पर लाया। कुमार गंधर्व ने देवास और मालवा के अनेक लोकधुनों को नए रागों में ढाल दिया। प्रकृति के अन्तर्संगीत में डूबने का कार्य गायक को भी योगी की तरह करना पड़ता है। इसके बाद वह प्राकृत दशा के संगीत-स्वरों से रागों की रचना कर सकता है। प्राकृत स्वरों को संस्कृत बनाने की प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से गुजरती है। पहली अवस्था में वादी-संवादी स्वरों का चयन किया जाता है। दूसरी अवस्था में अधूरे स्वरों की पूर्ति करनी पड़ती है। तीसरी अवस्था में प्राप्त स्वरों का समायोजन और संभावित स्वरों का सृजन किया जाता है। इस प्रक्रिया में मूल प्राकृत-स्वरों का सृजन किया जाता है, उन्हें बदला नहीं जा सकता। केवल उनके भीतर का अन्तर्नाद मुखर कर दिया जाता है, ताकि उसकी निजी सत्ता बन जाए। स्वतंत्र सत्ता और निजी पहचान के लिए अन्तर्नाद आवश्यक है, जिससे दुर्बल लोकधुनों के भीतर व्यापक प्रकृति की शक्तिधारा से जुड़ जाने की क्षमता आ सके। इस प्रकार क्षेत्रीय प्रकृति में पनपने वाली विविध लोकधुनों को शास्त्रीय संगीत की संस्कृति प्रकृति में पनपने वाली विविध लोकधुनों को शास्त्रीय संगीत की संस्कृति हमेशा दैशिक की होती है। यह अपनी प्रकृति में उपजती है। इसकी जड़ें अपनी मिट्टी में होती है। यह अपनी हवा, अपना पानी, और आकाश चाहती है। इसमें अपने विकास की आग होती है। लेकिन, इसकी सुगंधि सारी दिशाओं में बेरोक फैल जाती है। इसी सर्वव्यापी समत्व के कारण यह उभेद चरित्र की होती है। संस्कृति उधार नहीं मिलती और न आयात हो सकती है।

भाषा में भी संस्कृति की प्रक्रिया घटित होती है। इसमें भी तद्भव शब्द तत्सम बनते हैं। तद्भव का अर्थ है, जैसा पैदा हुआ वैसा ही, प्राकृत रूप। और तत्सम का अर्थ है सम् की ओर अग्रसर हुआ रूप। एक ही शब्द के दोनों प्रकार के रूप होते हैं। तद्भव के रूप में परिवर्तन होता है। पृथ्वी की गति से उत्पन्न काल का प्रवाह विवश करता है कि ऋतु के अनुसार रहना होगा। बाह्य जगत के दबावों के टिकने के लिए सर्वव्यापी सम् की ओर अग्रसर होकर तत्सम बनना पड़ता है। तद्भव शब्दों में क्षेत्रीय गुण होते हैं इन्हीं गुणों को विकसित कर बाह्य जगत में फैलने का अवसर मिलता है और तब तद्भव सम की ओर बढ़ता हुआ तत्सम बन जाता है। चूँकि सम् सर्वत्र है, उसे माध्यम बनाने पर अस्तित्व परिष्कृत होता है, विकृत नहीं। विकृति विनाश की दिशा है, परिष्कार अपने में रहकर सर्वत्र स्वीकृत होने की क्षमता है। प्राकृत से संस्कृत बनने का अथवा प्रकृति से संस्कृति बनाने का अर्थ निजी अस्तित्व का सर्वनाश नहीं है। आपत्ति उठती है कि प्राकृत को संस्कृत क्यों बनाया जाए? तद्भव को तत्सम क्यों बनाना है? इसका एक उत्तर है, चूँकि यथास्थिति संभव नहीं है, क्योंकि पृथ्वी गतिशील है। दूसरा, उत्तर है, तद्भव दशा में असंवादी निजता बढ़ती है, क्षेत्रीयता की ढूहें उठती और आपस में टकराती हैं। धीरे-धीरे कटते-कटते क्षीण हो जाती हैं। जब भी सर्वव्याप्त सम् की ओर बढ़ने से देश, समाज-विश्व ब्रह्माण्ड आत्मवत् होने लगते हैं। प्रकृति को संस्कृति बनाने का प्रयास इसीलिए होता है कि विकृति से रक्षा हो सके। संस्कृति बनने में प्रकृति का तनाव झेलना पड़ता है, मूल उद्गम की याद उसके आवेग को नियंत्रित कर देती है। नदी की प्रकृति है ऊपर से नीचे की ओर बहना, वह सागर के खारे जल में मिलकर विकृत हो जाती है। लेकिन, काशी में गंगा की धारा उत्तर की ओर हो गई है—उस हिमालय की ओर जहाँ से वह निकलती है। काशी की प्रकृति इन्हीं अर्थों में संस्कृति कही गई है। वह 'धारा' नहीं अपितु 'राधा' है।

कालिदास को राष्ट्र की समग्र सांस्कृतिक चेतना का कवि कहते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कुमार संभवम् के जिस श्लोक को उद्धृत किया है उसमें पार्वती के रूप का वर्णन है। इस में कालिदास ने लिखा है कि ब्रह्मा संसार का सम्पूर्ण सौंदर्य एक ही स्थान पर देखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने उपमा के लिए व्यवहार में आने वाली सभी वस्तुओं को एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया और उन्हें यथास्थान सजाकर विश्वरूपा पार्वती का सौंदर्य बना दिया। विविधा को एक में और एक को विविधा में देखने की यही दृष्टि भारतीय संस्कृति की निजी विशेषता है। आत्मा को सत्यापित करने वाली भारतीय मनीषा एक से अनेक होने और अनेक से पुनः एक हो जाने की याज्ञिक प्रक्रिया स्थापित करती है। इसमें देश स्थिति है, काल गति है। काल पर्व है, देश तीर्थ है। इन्हीं दोनों के मध्य राष्ट्र-जीवन फूलता-फलता है, संस्कृति अग्रसर होती रहती है।

काल के पैमाने पर संस्कृति के तीन भेद हो जाते हैं—शाश्वत, युगीन और क्षणिक। शाश्वत संस्कृति प्रकृति द्वारा संचालित काल अर्थात् संवत्सर से पर्वों-त्योहारों में व्यक्त होती है। इसका एक उदाहरण असम का 'बिहू' पर्व है। बिहू विषुव शब्द का असमिया उच्चारण है। इसमें 'वि'-बि में, 'षु'-हू में बदल गया है और 'व' का लोप हो गया है। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी जिस परिभ्रमण पथ पर घूमती है, उसे

विषव वृत्त कहते हैं विषुव पर आधारित पर्व को बिहू कहा गया। ऋतु परिवर्तन के तीन संधि-कालों में बिहू के तीन पर्व मनाए जाते हैं। इस प्रकार एक ही वार्षिक काल के अनुसार देश के विभिन्न भागों में प्रकृति की अपनी-अपनी विशेषताओं के अनुरूप अलग-अलग रीतियों और नामों से पर्व-उत्सव मनाए जाते हैं। ये उत्सव जनजीवन को व्यापक प्रकृति से जोड़ते हैं। इनमें कालगत एकता और देशगत विविधता होती है। यह सूत्र साहित्य और कला के सृजन में भी लागू होता है और इससे राष्ट्र की समग्र सांस्कृतिक चेतना व्यक्त होती है। दूसरी है युगीन संस्कृति। यह राज्य व्यवस्था और राजकीय प्रश्रयों के समानान्तर विकसित होती है। युगीन परिस्थितियों के दबाव से साहित्य और कला के सृजन अछूते नहीं रहते। ये कभी सत्ता प्रतिष्ठान के विरुद्ध तो कभी पक्ष में आगे बढ़ते हैं, जन जीवन के साथ जुड़कर एक सतत् भूमिका में भी बने रहते हैं। युगीन संस्कृति इतिहास के कालक्रमों में व्याख्या पाती है। इस पर राज्य और वाणिज्य से बनने वाले अर्थ-चक्र का पूरा प्रभाव पड़ता है। इसे राजकीय संस्थाएं और जनाकांक्षा प्रेरित करती हैं। यह मानुषी व्यवस्था पर अधिक निर्भर है। तीसरी है क्षणिक संस्कृति, यह बाजार के तीव्र परिवर्तनों से प्रभावित रहती है। यही उपभोक्ता संस्कृति कही जाती है। इस पर देशी-विदेशी उत्पादों का असर पड़ता है। आज यही सबसे अधिक भूमंडलीकृत हुई है। समृद्ध भारत के इतिहास में उपभोग-रूचि की प्रधानता वाली संस्कृति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। चाणक्य ने समाज को दो प्रवृत्ति समूहों में विभाजित माना था, उन्होंने एक को भोगलोलुप और दूसरे को साधु सेवित सनातन समाज कहा। भोगलोलुप समाज सही अर्थों में उपभोक्ता होता है। वास्तव में असंयमित उपभोग प्रवृत्ति के लिए संस्कृति शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। अपसंस्कृति जैसा शब्द तो बड़ा ही कृत्रिम लगता है। जब संस्कृति है ही तो वह 'अप' कैसे होगी। उसके गिरने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'कल्चर' के अर्थ में बड़ी तेजी से संस्कृति शब्द का उपयोग हो रहा है। इसलिए इस महत्वपूर्ण शब्द का भेद करना आवश्यक है। इससे यह ज्ञात होगा कि संस्कृति का प्रयोग किस अर्थ-स्तर के लिए किया गया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति शब्द को एक व्यवस्था दी है। यह कि संस्कृति सभ्याता को नियंत्रित कर सकती है। इस दायित्व के कारण यह शब्द वैश्विक महत्व का हो गया है। उन्होंने लिखा है कि सभ्यता ने मनुष्य के लिए दोनों ही मार्ग प्रशस्त कर दिए हैं, वह विकृति की ओर भी जा सकता है और संस्कृति की ओर भी। मनुष्येतर जीवन के लिए प्रकृति केवल प्रकृति है, किन्तु सभ्य जीवन के लिए वह कभी विकृति है कभी संस्कृति (पृ. 80, ह.प्र. द्वि.ग्रं. 7)। सभ्यता गतिशील है। उसकी गति संस्कृति में गति और स्थिति का कोई ऐसा केन्द्र है जिस पर पहुँच कर पतन रुक जाता है। सच तो यह है कि जब व्यक्ति द्वारा अर्जित साधन समाज हित की ओर व्यय होने लगता है, उसका निजी दर्द सबके दर्द के साथ सम्मिलित होकर बड़ा आकार ले लेता है और वह छोटी भूख से बाहर निकल जाता है। तब उसके कार्य विकृति की दिशा में नहीं अपितु संस्कृति की दिशा में होने लगते हैं। कहा भी गया है कि भूख लगना प्रकृति है, छीन-झपटकर खाना विकृति है और मिल बाँटकर खाना संस्कृति। तुलसीदास ने इसी आशय से लिखा है—''प्राकृत्तजन कीन्हे गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना॥ जो व्यक्ति प्राकृत है निजी भूख ही उनका सब कुछ है, ऐसे व्यक्ति का गुण गान करने पर वाणी पश्चाताप करने लगती है—पछताने लगती है, सिर पीटने लगती है, न जाने क्यों मैं इसके मुँह में आई। तुलसी संस्कृत और संस्कृति धर्मी कार्यों में ही वाणी का उपयोग उचित समझते हैं। इसी धारणा के कारण समाज में नकारात्मक विषय को भी सकारात्मक शब्द दिये जाते हैं, जैसे—दुकान बंद करना नहीं कहा जाता, दुकान बढ़ाना कहा जाता है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग परंपरा से समाज में प्रचलित है। यही संस्कृति का मंगलतत्व है। जिससे वह विकृति से अलग है। आचार्य द्विवेदी का कथन है, प्राकृतिक शक्तियों का जो संयोजन केवल व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए होता है, और सामाजिक प्रयोजन के लिए नहीं होता उसे मंगल नहीं कहा जा सकता। प्राकृतिक शक्तियों का यदृच्छा (मनमाना, संयोजन विकृति है और सामाजिक मंगल की दृष्टि से संयोजन संस्कृति है (पृ. 80, वही)। सभ्यता प्राकृतिक शक्तियों को अर्जित करती है और आगे बढती है लेकिन इन शक्तियों के उपयोग की दिशा देखकर यह निर्णय हो पाता है कि वह विकृति की ओर मनुष्य को धकेल रही है अथवा संस्कृति की ओर ले जा रही है। तकनीकी विकास के विनाशकारी कार्यों को विकृति ही कहा जा सकता है, संस्कृति नहीं। सम् के अतिक्रमण से कोई भी कृति संस्कृति नहीं बन सकती। कल्चर के अनुवाद में संस्कृति शब्द का उपयोग करने से इसकी अर्थ-सम्पदा अज्ञात हो जाती है और तब सभ्यता को सही मार्ग दिखाने वाला कोई नहीं बचता। समाज-चरित्र को नियमित करने वाले शब्द संस्कृति के अर्थ की क्षति होने से अराजकता और अपराध को प्रश्रय मिलता है। कर्म की दिशा भूल जाती है और मनुष्य आत्मघात की ओर बढ़ता है, विकृति और विनाश की ओर बढता है। अत: संस्कृति शब्द को इसके मूल स्रोत और मूल अर्थ में रखते हुए सामयिक भूमिका में प्रयोग किया जाना चाहिए।

डॉ. प्रमोद कुमार दुबे
IV/47 एन आई ई कैम्पस, एन सी ई आर टी
श्री अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-16
मो० 9810780771

ओलिम्पिक खेलों की अन्तर्ज्योति

डॉ. लोकेश चन्द्र

ओलिम्पिक खेल यूरोप की अन्तश्चेतना हैं, उनकी शास्त्रीय आत्मा की अभिव्यक्ति जिस में योगेश्वर और धनुर्धर द्यौषू पिता (Zeus Pater) अर्थात् ज़ेडस् पातेर् हैं। ग्रीक भाषा, संस्कृति और मनीषा यूरोप के आधुनिक विकास की नींव है। ग्रीक जगत् छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभक्त था। चार वर्षों में एक बार वे ओलिम्पस पर्वत पर एकत्र होकर, आध्यात्मिक पर्व और शारीरिक खेलों को, अपनी सामूहिक अस्मिता के प्रतीक के रूप में मनाते थे। संस्कृत से अनुमाणित भारोपीय जगत् में ध्यान और धनुष का साहचर्य था। उपनिषदों में कहा गया है—नायमात्मा नलटीनेन लभ्य: और सह वीर्यं करवार है (कठ-उपनिषद्) अर्थात् बलहीन आत्मा को नहीं पा सकता, हम मिलकर शौर्य के कार्य करें। ओलिम्पिक इसकी अभिव्यक्ति हैं। यूरोप में पुनर्जागरण (Renaisance) से लेकर ग्रीक संस्कार के माध्यम से मनुष्य केन्द्रित ऐहिक चिन्तन का अभ्युदय हुआ, नए विज्ञान का प्रारम्भ भी हुआ जो कई बार ईसाई धर्म के प्रतिकूल था। नई लोकतन्त्र की परम्पराएं ग्रीक और रोमक संस्थाओं से प्रेरित थीं। यूरोप का नया जीवन ग्रीकोन्मुख था। विज्ञान की नई शब्दावली ग्रीक से ली गई-उदाहणार्थ इलेक्ट्रोनिक्स। डेमोक्रसी 'लोकतन्त्र' शब्द भी ग्रीक डेमोस् 'लोग'+क्रातोस् 'शक्ति' है। ग्रीक 'क्रातोस्' संस्कृत 'क्रतु' ही है। फ्रांस के सर्वशक्तिशाली सम्राट् लूइस 14 के समय आधुनिक यूरोपीय बैले (ballet) नृत्य का आविर्भाव हुआ। यह प्राचीन ग्रीक देवों और देवियों के ओलिम्पस पर्वत पर ज़ेडस् (घोष्ट) के अराधन नृत्यों का नवीकरण था। सम्राट् इनमें ग्रीक देव बनते थे। फ्रांस में ग्रीक संस्कृति के जागरण के लिए विशेष उत्साह था। अंग्रेजों का साम्राज्य था और फ्रांस का यूरोपीय संस्कृति में वैराग्य था। सन् 1816 में फ्रांस के राजन्य पियरे द कूबर्तिन् ने ओलिम्पिक की बुझी हुई ज्वालाओं को फिर से प्रदीप्त किया। ये स्वयं खिलाड़ी नहीं, अपितु दिग्गज विद्वान् थे जो ग्रीक के सुवर्ण-युग को पुनर्जीवित करना चाहते थे जिसमें शारीरिक व्यायाम का विशेष महत्व था। उन्होंने संसार से खिलाड़ी एकत्र किए, जिससे राष्ट्रगत विद्वेष कम हों। 1816 में ग्रीक राजा के नेतृत्व में, राजधानी एथन्स में विशेष संगमर्मर का क्रीडांगण बनाया गया और खेलों का श्रीगणेश ग्रीस की पावन भूमि पर हुआ। ओलिम्पस के शैलराज से लाई गई पावन अग्नि की ज्वाला एथन्स ओलिम्पिक को आलोकित करती रही। प्राचीन ग्रीक खेल-प्रिय थे और विराट् परिधि से खेलते थे। ग्रीस में सर्वत्र खेल थे, सब प्रकार के खेल-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए, उनके आशीर्वाद पाने के लिए, विजय के लिए और वैभव के लिए। ग्रीक संस्कृति वैदिक के अतिनिकट थी। बृहदारण्यक-उपनिषद् 6.3.6 में प्रार्थना है—मधु द्यौरस्तु न: पिता। इसका 'द्यौ: पिता' ग्रीक में 'ज़ेडस् पातेर्' है। उपनिदषदों में जीवन मधुमय है, इसी भांति ग्रीक चैतन्य में जीवन भव्य और आनन्दमय, ज्योतिर्मय और विजयमय था।

ओलिम्पिक में दो उत्सव मनाए जाते थे—ओलिम्पिक पर्व और ओलिम्पिक खेल। दोनों साथ-साथ चलते थे। सर्वप्रथम दोनों विधान 776 ईसा पूर्व में मनाए गए। इनकी पुष्टि पुरातत्व के उत्खनन से होती है। ये दोनों शैलेन्द्रराज ओलिम्पिस पर ज़ेडस् के आराधन-हेतु थे। कवि होमर के ज़ेडस् ऋग्वेद के द्यौष् हैं। ये भारोपीय विश्व-चेतना की व्यापकता के प्रतीक हैं जिनका मानव तन और मन की निष्ठा और गरिमा द्वारा हो सकता है। सबल शरीर सशक्त आत्मा का कारण है। ज़ेडस् रमणीय ओलिम्पस पर्वत पर द्वादश महादेवों से परिवृत हैं जो भारतीय द्वादश आदित्य हैं। यहां नव-गीताएं (Nine Muces) गाती हैं, नृत्य करती हैं, झरनों में स्नान करती हैं और देवताओं का आह्वान करती हैं। ओलिम्पस के अगम्य शिखरों पर, जो सदा मेघाच्छादित रहते हैं, देवताओं पर ज़ेडस का साम्राज्य है। शिखर आठ निम्न पर्वतकूटों से घिरा है जो भारतीय अष्ट-कुलपर्वतों के समकक्ष हैं। इलियड में यह देवताओं का निवास है और उनके अधिपति ज़ेडस् हैं। यहां खुली हवन-वेदियों पर ग्रीक ज़ेडस् का होम करते और व्यायाम-क्रीडाएं करते थे। सन् 776 ईसा पूर्व तक ये खेल समस्त ग्रीक जगत् में विख्यात हो गए थे और इनमें भाग लेने की होड़ लग गई थी। समस्त ग्रीक भाषी ज़ेडस् की आराधना के लिए यहां आते जिसमें ग्रीक शौर्य की प्रतियोगिता केन्द्रीभूत थी। ग्रीक भाषा से एकसूत्र में बंधे लोग, अपनी अस्मिता को ओश्कुमेने अर्थात् एकजगत् का रूप देने यहां समवेत होते। यहां ग्रीक जगत् बर्बर प्रत्यन्तों के प्रशासन के लिए अपनी शक्ति संचित करता था।

भक्ति और शक्ति का संगम ओलिम्पिक पर्व और खेल ग्रीक संस्कृति की विजयिनी मनीषा के प्रतीक थे जो भारोपीय (संस्कृत सरिता) के प्रवाह को अनजाने क्षेत्रों में ले जाते थे। खेलों का इतना महत्व था कि राजा और सामान्य प्रजा साथ-साथ भाग लेते। विजेताओं को जंगली घोलिव की शाखा दी जाती थी जो इस युग का सर्वोच्च सम्मान था। विजेताओं की कीर्ति कवि गाते, शिल्पी उनको प्रतिभाओं में अमर करते। अलक्षेन्ड महान् के पिता फिलिप द्वितीय ने 582 ईसापूर्व में रथ की दौड़ जीत कर अपने वंश का गौरव बढ़ाया। खेलों में केवल ग्रीक भाग ले सकते थे और खेलों की अवधि में भाग लेने वालों को अनाक्रान्त पहुंचने के लिए नगर-राज्यों में सन्धिस्थिति रहती थी। रोम के ईसाई सम्राट् थियोडोसियस ने सन् 369 में ग्रीक को जीतने पर ओलिम्पिक खेल और पर्व वर्जित कर दिए।

ओलिम्पिक पर्व समस्त समारोहों का हृदय था। इसमें ज़ेड्स का होम और स्तुति की जाती थी। हामेर की स्तुति आज भी विद्यमान है, और उत्खनन तिपाई पर से पीतल के होमकुण्ड मिले हैं जिनमें सर्पमुख बने हैं। ये सर्प युधिष्ठिर के सर्पयज्ञ के समान हैं। नाग, सर्प का अर्थ शत्रु है। ज़ेडस् के शस्त्र बिजली और बज्र थे, जिनसे ग्रीक के समस्त शत्रुओं का निवास करते हैं। वे ग्रीक के संस्कृतकरण के वरेण्य देन हैं जो पूर्ववर्ती देवों को सुसंस्कृत करते हैं। इनके सिर से शस्त्रसज्जिता आथेना देवी निकली जो राजधानी एथेन्स की देवी थीं, प्रजा और युद्ध की भी। जो शूरवीर ग्रीक आदर्शों के लिए लड़ते थे ये देवी इनकी रक्षा करती थीं। ज़ेडस् ने वृवभरूप धारण कर फीनिशियन राजकुमारी यूरोपा का अपहरण किया। फीनिशियन सेमिटिक भाषी थीं। इस द्वारा ज़ेडस् ने फीनिशियन आधिपत्य समाप्त कर समस्त क्षेत्रों में ग्रीक भाषा और संस्कृति की स्थापना की। ज़ेडस् Panhallenies अर्थात् 'समस्त ग्रीक जातियों का देव' कहलाने लगे और सारे ग्रीकभाषी क्षेत्र होमर में यूरोपा कहलाए। नवीं शती में क्रूसेड के समय पाश्चात्य लोगों ने अपनी सामूहिक अस्मिता के लिए 'यूरोप' नाम ग्रहण किया। संस्कृत-अनुप्राणित भाषाएं बोलने वाली ग्रीक जातियों से ज़ेडस् को पूर्ववर्ती सेमिटिक देवताओं के परिष्कार-कर्ता के रूप में विजय का प्रतीक माना। ज़ेडस् वैदिक द्यौष् के रूपान्तर हैं और ऋग्वेद में 500 आहूत हैं और अग्नि इनका पुत्र है। ग्रीस में इनको अग्निहात्रे के समय कांस्य के घोड़े और पुरुषों की छोटी-छोटी प्रतिभाएं समर्पित की जाती थीं। यज्ञ का पर्याय क्रतु ग्रीक में क्रातोस् के रूप में मिलता है। क्रातोस के विभिन्न भाव हैं—होमर में 'शक्ति, अधिपत्य, विजय', हिरोडोटस में 'राज्य, साम्राज्य', एस्काइलस में 'मूर्तिमान् बल'। ज़ेडस् की उपासना शक्ति, आधिपत्य, विजय, शत्रुसंहार का प्रतीक थी। इसके लिए सब, भगवदगीता के शब्दो में 'समवेता: युयुत्सव:', अपने शौर्य का प्रदर्शन कर युवाजनों को प्रेरित करते थे। कठ-उपनिषद् में कहा है-यह वीर्यं करवाव हैं।

यह ओलिम्पिक पर्व वैदिक यज्ञ का प्रतिरूप था। 'यज्ञ' का अवेस्ता में 'यश्न', फारसी में 'जशन' है। ये उत्सव थे जिनमें सोम का सवन और आमोद-प्रमोद का जश्न मनाया जाता था। अग्निहोम की अन्तर्ज्वालाएं खेलों को पवित्र करतीं। इसकी झलक 1996 अटलांटा खेलों के ध्वज पर अंकित थी—अग्निज्वाला और उस पर चन्द्र, बिन्दु और नाद के तीन तारे। दीखता है कि कलाकार बौद्ध बीजाक्षरों में अंकित ऊँ के चक्र, बिन्दु, नाद से प्रभावित हैं। समस्त राष्ट्रों के धावक ओलिम्पस पर्वत से अग्निज्वाला लाए थे और यह प्राचीन ग्रीक भावना से ओतप्रोत थी। प्राचीन ग्रीक अग्नि लेकर ओलिम्पस पर्व की परिक्रमा करते थे, और ज़ेडस की स्तुतियां गाते थे। उस अग्नि का अद्यतन प्रतीक चन्द्र, बिन्दु, नाद से अलंकृत एकस्वर से कहता है—अनेकों घरों में समिद्ध अग्नि एक है, समस्त विश्व को आलोकित करने वाला आदित्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय ओलिम्पिक समिति के अध्यक्ष समाप्ति समारोह के समय विश्व के युवकों को आह्वान करते हैं कि वे सांमजस्य और सौहार्द के प्रणेता बनें जिससे ओलिम्पिक की ज्वाला शौर्य, परस्पर-सम्मान और मानव-कल्याण की सनातन ज्योति रहे—सं वो मनांसि जानताम् (ऋग्वेद)।

प्रो० डॉ लोकेश चन्द्र
संसद सदस्य - 1974-1986
जे-22, हौज ख़ास इन्कलेव
नई दिल्ली-110016

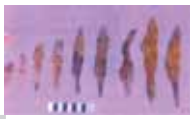

भौतिक संस्कृति की समृद्धि में लोहे का योगदान

(मध्य गंगा द्रोणी के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. सर्जुन प्रसाद

सभ्यता और संस्कृति के विकास में लोहे की क्रांतिकारी भूमिका रही है। मध्य गंगा द्रोणी में लौह उपकरणों के इस्तेमाल की वजह से समाज का सर्वांगीण विकास हो पाया। प्रस्तर, अस्थि, ताम्र आदि उपकरणों से मोटे तने युक्त विशाल वृक्षों वाले घने जंगलों को सफाया किया जाना तथा कड़ी कछारी मिट्टी को कृषि योग्य बनाना दुष्कर कार्य था। इसके लिए लौह उपकरण सबसे उपयुक्त थे। हालांकि यह कार्य कांस्य उपकरणों से भी हो सकता था परन्तु कांस्य निर्माण के लिए तांबे के अतिरिक्त टीन की आवश्यकता थी। भारत में टीन का अत्यन्त अभाव था। सैंधव सभ्यता काल में भी अफगानिस्तान आदि देशों से कांस्य निर्माण हेतु टीन का आयात किया जाता था। वही मध्य गंगा द्रोणी के आस-पास कच्चा लोहा (लौह अयस्क) का विपुल भण्डार मौजुद था। इसे गलाने हेतु आसानी से ईंधन प्राप्त किया जा सकता था और उच्च तामपान लगभग (1540 डिग्री सेंटीग्रेट) उत्पन्न कर लोहा गलाया जा सकता था। संभवत: इसी वजह से धातु कर्मियों का ध्यान लौह तकनीक की ओर आकृष्ट हुआ और वे लोहे के विविध उपकरणों का निर्माण करने लगे।

गंगा के मैदानी इलाकों में अधिक वर्षा होती थी जिससे यहाँ जंगल बहुत फैले हुए थे। हड़प्पाई क्षेत्रों में छोटे और झाड़ीदार पेड़-

जुआफरडीह (बिहार) से प्राप्त उ.कृ.मा.मृ. (600-200 ई०पू०) कालीन विभिन्न लौह उपकरण

समाधि के साथ प्राप्त लौह की विविध छुरियाँ

पौधों के कारण पत्थर और कांसे के हथियारों से काम चल सकता था। इन औजारों से बबूल-कीकर जैसे पेड़ों की सफाई हो सकती थी और इस तरह बड़े पैमाने पर आबादी बस सकती थी। किन्तु मध्य गंगा के मैदानी इलाकों की जलोढ़ मिट्टी में जो घने जंगल थे, उन्हें लोहे के औजारों के बिना साफ करना असंभव था। आग से जलाने के बाद भी उनकी जड़ों को हटाना मुश्किल कार्य था। यही कारण है कि मध्य गंगा के मैदानी इलाकों में लौह तकनीक के विकास होने के फलस्वरूप कृषि से अतिरिक्त उपज तथा बड़े पैमाने पर बस्तियों का निर्माण, विविध शिल्पों में क्रांति, व्यापार तथा सैन्य शक्तियों में इजाफा हुआ।

ईसा पूर्व 7वीं-छठी सदी के आसपास से मध्य गंगा के मैदानों में लोहे का व्यापक प्रयोग हो गया था। इसके व्यापक प्रयोग होने से कृषि तथा विविध दस्तकारी में आशातीत उन्नति के साथ-साथ जनपद तथा महाजनपद के उद्भव के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ बन गई। लोहे के हथियारों का प्रयोग होने के कारण योद्धा-वर्ग महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगे। खेती के नये औजारों और उपकरणों की मदद से किसान आवश्यकता से अधिक अनाज पैदा करने लगे। अब राजा अपने सैनिकों और प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए इस अतिरिक्त उपज को एकत्र कर सकता था। यह अतिरिक्त उपज उन शहरों को मिल सकता था जो ईसा पूर्व सातवीं से पाँचवी सदियों के बीच उदित हुए थे। ठीक इसी समय

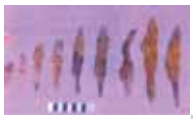

लगभग 700-600 ई०पू० धातु के मुद्रा का प्रचलन प्रारंभ हुआ। इसके प्रादुर्भाव में लौहे प्रौद्योगिकी को अवश्य मदद मिली होगी। मुद्रा प्रचलन से विनिमय अथवा लेन-देन बहुत आसान हो गया और व्यापार का अत्यधिक उन्नयन हुआ। फलत: व्यापारी केन्द्रों में बसने लगे। जिससे नगरों का उदय तथा उन्नति हुई। नम जलवायु और भारी वर्षा की वजह से मध्य गंगा के मैदानों में मिट्टी या कच्ची ईटों से विशाल और स्थायी इमारतें बनाना संभव नहीं था, जैसा कि हमें शुष्क क्षेत्रों में देखने को मिलती है। अत: गृह निर्माण में लकड़ी का प्रयोग इस इलाके में अधिक किया जाता था। लकड़ी का अधिक इस्तेमाल गृह निर्माण में इसलिए भी किया जाता था कि आस-पास के घने जंगलों में इमारती लकड़ियाँ आसानी से उपलब्ध हो जाती थीं। बाढ़ग्रस्त उत्तरी बिहार में लकड़ी के घर बनाये जाते होंगे। इन इलाकों में मिट्टी के घरों की कल्पना नहीं की जा सकती थी। आज भी इन इलाकों में तथा इसके ऊपरी सीमा पर नेपाल की तराई क्षेत्रों में लकड़ी के भवन अधिक बनाये जाते हैं। मेगास्थनिज ने मौर्या की राजधानी पाटलिपुत्र में लकड़ी की इमारतों का उल्लेख किया है। पटना के कई स्थलों से चौथी शताब्दी ई०पूर्व के साल लकड़ी के लट्ठे और लकड़ी के घेरे मिले हैं। पाटलिपुत्र नगर की रक्षा के लिए दक्षिण में लगाये गई लकड़ी के लठे अथवा बाढ़ तथा आक्रमण के लिए अपनाई गई युक्ति की रेडियों कार्बन तिथि लगभग 600 ई.पू. बताई गई है। राजघाट में भी लकड़ी के तख्ते प्राप्त हुए हैं। अत: प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में बड़े पैमाने पर लकड़ी के भवनों का निर्माण किया जाता था। इन लकड़ी के भवनों का निर्माण लौह उपकरणों के पर्याप्त प्रयोग से ही संभव हो पाया होगा।

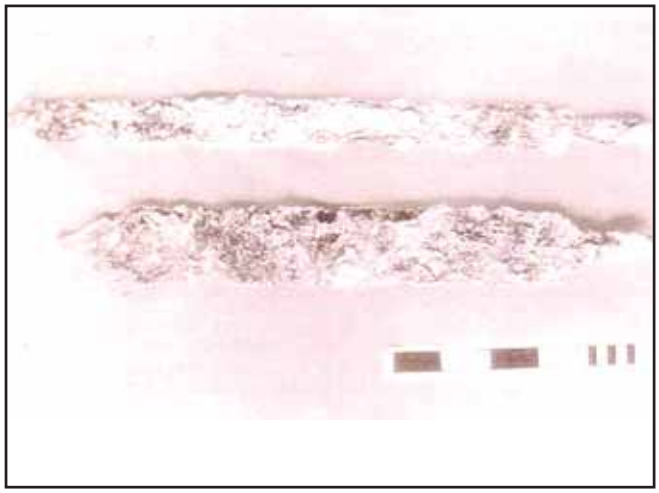

लौह की तलवारें, अगियावीर

लकड़ी के अतिरिक्त नगरों में मिट्टी के घर बनाये जाते थे। राजघाट में 500 ई.पूर्व का एक विशाल मिट्टी का तटबन्ध प्राप्त हुआ है। वैशाली का मिट्टी का स्तूप भली प्रकार ज्ञात है। राजघाट के अनेक गड्ढों से प्राप्त सरकंडो की छाप युक्त मिट्टी के लेप (Plaster) इस बात के द्योतक है कि सरकंडो की दीवारों पर मिट्टी का प्लास्टर किया जाता था। चिंराद में उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड (Northern Black Polished Ware) स्तर से मिट्टी की बनी दीवारें तथा मिट्टी कूटकर

आगियावीर (उ.प्र.) से प्राप्त उ.कृ.मा.मृ. (600-200 ई०पू०) तलवारें एवं दीपक स्तंभ

बनाया गया फर्श प्रकाश में आये है। फूस-बांस के बने आवास भी मिले हैं। ताराडीह से स्तांभागर्त्त तथा बालू और चूना मिला फर्श प्रकाश में आया है। मिट्टी की बनी दीवारें, स्तांभागर्त्त, चूल्हा और रसोईघर सोनपुर से भी प्रकाश में आये हैं। जिससे प्रतीत होता है कि मध्य गंगा घाटी में जहाँ बाढ़ का प्रकोप नहीं था, वहाँ मिट्टी के घर बनाये जाते थे। साथ ही इनके छत घास-फूस, सरकंडो, लकड़ी आदि के बनाये जाते होंगे। इस प्रकार के गृह निर्माण में लोहे से खूब मदद मिली होगी। गृह निर्माण में प्रयुक्त होने वाली लौह वस्तुएँ जैसे कील, कुण्डी, दरवाजा का गुलमेख, चूल, सीकड़/सिटकिनी आदि कतिपय पुरास्थलों से उ.कृ.मा.मृ. (N.B.P.W.) स्तर से मिले हैं। कतिपय पुरास्थलों से उ.कृ.मा. मृ. (N.B.P.W.) संस्कृति के ऊपरी स्तर से पकाई गई ईंटों से निर्मित भवनों के अवशेष प्रकाश में आये हैं। यद्यपि अधिकांश स्थानों से प्राप्त ईटों के अवशेषों के आधार पर भवनों की रूपरेखा निर्धारित करना कठिन है तथापि चम्पा से ईंट कूटकर बनाये गये फर्श, ईंट की सीढ़ियाँ प्रकाश में आये हैं। इसके अतिरिक्त चम्पा से

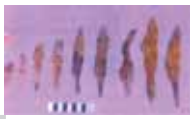

ईंट निर्मित बड़े कमरे, बड़ा बरामदा, फर्श, ईंट की सीढ़ियाँ प्रकाश में आये हैं। इसके अतिरिक्त चम्पा से ईंट निर्मित बड़े कमरे, बड़ा, बरामदा, फर्श, ईंट से बनी नाली तथा ईंट निर्मित कुआँ प्रकाश में आए हैं। यहाँ सीढ़ियों का निर्माण संभवत: चारदीवारी पर चढ़ने के लिए किया गया था। इसके अतिरिक्त कौशांबी, भीटा, चिरांद, सोनपुर, वैशाली, पाटलिपुत्र, कुम्हरार और अन्य स्थलों से भी ईंट निर्मित भवनों के अवशेष प्रकाश में आये हैं। मकानों की छाजनी के लिए खपड़े का व्यवहार किया जाता था। ईंटों तथा खपड़े के छाजन वाले मकान में लोहे की कीलें आदि व्यवहार में लाई जाती थी। अत: प्रतीत होता है कि भवनों के निर्माण में लोहे का योगदान अवश्य रहा होगा।

नगरों के आविर्भाव में लोहे की भूमिका पर प्राय: सन्देह व्यक्त किया गया है और इसका श्रेय मुख्य रूप से राज्य को दिया जाता है। परन्तु मध्य गंगा के मैदानों में बिना उच्च कोटि की उत्पादकता के नगरों या राज्यों के उदय की कल्पना नहीं की जा सकती थी। ऐसी उत्पादकता लोहे के औजारों के प्रयोग से ही संभव था। घने जंगलों का सफाया तथा कड़ी कछारी मिट्टी खेती योग्य लोहे के औजारों से ही संभव हो पाया। यह अनुचित प्रतीत होता है कि ताम्रपाषाण कालीन हथियारों के द्वारा मध्य गंगा के मैदानी क्षेत्रों में अधिशेष का उत्पादन हो सकता था। प्रस्तर तथा ताम्र उपकरणों से खेती की जा सकती थी। परन्तु लोहे के प्रयोग से पहले इस्तेमाल में आने वाले पुराने किस्म के औजारों के गहन प्रयोग की बात मात्र कल्पना प्रतीत होती है। चिरांद, मनेर, सोनपुर, ताराडीह, खैराडीह और नरहन की ताम्रपाषाणकालीन स्तर से तांबे के उपकरण मिले हैं। चिरांद में तांबे की वस्तुओं की संख्या सात, मनेर में चार, सोनपुर में पाँच, ताराडीह में छह, तथा खैराडीह और नरहन में

धम्ना से प्राप्त विविध प्रकार के नहरनी एवं रूखनियाँ

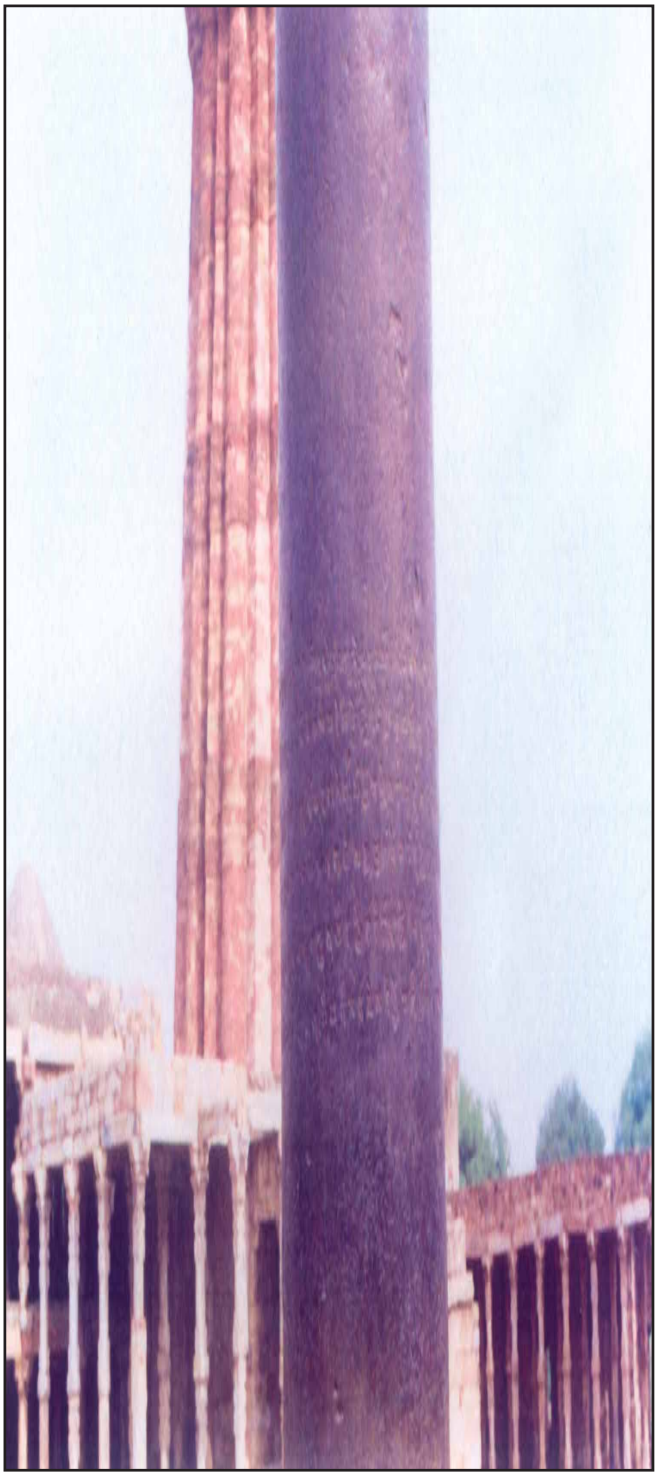

मेहरौली (दिल्ली) के गुप्तकालीन लौह स्तंभ

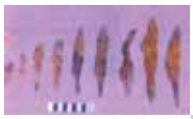

दो-दो है। इनमें से किसी की शक्ल ऐसी नहीं है जिससे इस बात का आभास हो कि जमीन खोदने के लिए उनका इस्तेमाल हुआ था। यद्यपि इन स्थलों से नवपाषाणताम्रपाषाण कालीन प्रस्तर उपकरण कम मिले हैं, लेकिन ताराडीह में इस काल से प्रस्तर उपकरण अत्यधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं। उपर्युक्त सभी स्थलों से अस्थि उपकरण (Bone tools) अधिक संख्या में मिले हैं परन्तु इनके गहन प्रयोग से पैदावार में वृद्धि की कल्पना नहीं की जा सकती।

यह भी कहा जाता है कि अधिकांश बस्तियाँ नदियों के किनारे कायम हुई और इसके लिए जंगल को साफ करने की जरूरत नहीं थी। ऐसा कहना भी अनुचित कायम प्रतीत होता है। नदियों के संगम पर जंगल की सफाई की समस्या एक हद तक हल हो सकती है, परन्तु नदियों किनारे जंगल होते थे और हाल तक पाये गये हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्राचीन पालि ग्रंथों से भी पता चलता है कि कोसल और मगध के नगरों की सीमा पर जहाँ-जहाँ गौतम बुद्ध ठहरते थे, उनके आस-पास जंगल थे।

यह भी कहा जाता है कि मध्य गंगा के मैदानों की मिट्टी कड़ी नहीं होती थी। परन्तु मगध और उत्तरी बिहार के कुछ इलाकों में मिट्टी बहुत कड़ी थी। मगध के मैदानी क्षेत्रों में केवाल मिट्टी आज भी इतनी कड़ी है कि आधुनिक उपकरणों के इस्तेमाल के बावजूद भी इससे कृषि कार्य करने में किसानों को कठिनाइयाँ महसूस होती है। अत: केवाल मिट्टी फाल अथवा अन्य लौह उपकरणों की सहायता से तोडी जा सकती थी। लोहे की फाल तथा अन्य लौह उपकरण कतिपय पुरास्थलों से उ.कृ.मा.मृ. कालीन स्तर से बड़ी संख्या में मिलते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि खेती से अधिक अनाज उत्पादन करने में लौह उपकरणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा। खेती के काम आने वाले औजारों के अतिरिक्त विविध शिल्प उपकरण तथा गृह निर्माण में उपयोग की जाने वाली लौह वस्तुएँ मिलती हैं। जिससे प्रतीत होता है कि नगरों का आविर्भाव लौह उपकरणों के प्रयोग के फलस्वरूप हुआ था। इस इलाके का नगरीकरण हडप्पीय नगरीकरण से भिन्न था। इस क्षेत्र में यह प्रक्रिया दो चरणों में पाई जाती है—ईसा. पूर्व 7वीं सदी—4थी सदी तथा 2सरी ईसा. पूर्व—4थी सदी तक।

पहले चरण में हस्त शिल्प की वस्तुएं, सिक्के, मिट्टी के मनके आदि मिलते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि प्रारंभिक चरण वाले शहरों का भौतिक जीवन उच्च स्तरीय नहीं था। परन्तु प्राप्त भौतक अवशेषों से प्रतीत होता है कि छोटे-छोटे गाँव शहर के रूप में परिवर्तित होने लगे थे। इस काल में जिन गाँवों ने विकसित होकर शहर का रूप ले लिया था, उनमें चम्पा, राजगीर, सोनपुर, चिरांद, पाटलिपुत्र, वैशाली, राजघाट (वाराणसी), कौशाम्बी, अयोध्या, श्रावस्ती, तिलौराकोट (नेपाल) आदि थे। इन सभी नगरों में उ.कृ.मा.मृ. या उसकी मध्यावस्था की बस्तियाँ और मिट्टी की संरचनाएँ मिली हैं, जो प्राक् मौर्यकाल (Pre Mauryan Period) की हो सकती है। इस प्रकार के संरचनाओं के साथ लोहे के औजार पाये जाते हैं और छोटी-छोटी लौह भट्टियाँ मिलती हैं। अत: प्रतीत होता है कि इस प्रकार के संरचनाओं में रहने वाले मानव की आर्थिक उन्नति तथा संरचना निर्माण में लोहे के औजारों से अवश्य मदद मिली होगी। यह सच है कि पुरातात्विक उत्खनन से जो संरचनाएँ मिली हैं वे भव्य नहीं है लेकिन अन्यान्य प्राप्त भौतिक अवशेषों से प्रतीत होता है कि ताम्रपाषाणीय कृष्ण लोहित मृदभाण्ड (BRW) वाली बस्तियों की तुलना में उ.कृ.मा.मृ. (N.B.P.W.) वाली बस्तियों की आबादी में भारी वृद्धि हुई थी।

मध्य गंगा के मैदानों में बस्तियों के बीच असली अन्तर दुर्गों के निर्माण के साथ प्रारंभ होता है। दुर्ग-निर्माण की परम्परा मध्य गंगा के मैदानों में लगभग छठी शताब्दी ई.पूर्व प्रारम्भ हो गई थी। दुर्ग शब्द से किलेबन्द राजधानी का बोध होता है, जहाँ सेना का मुख्यालय होता था। मिट्टी के बने प्राचीर के पुरातात्विक साक्ष्य चम्पा, चन्द्रकेतुगढ़, कौशाम्बी, कोपिया, राजगीर, संकिसा, श्रावस्ती, तिलौराकोट, वैशाली, चम्पा, आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं। चम्पा, राजगीर और श्रावस्ती के दुर्गों से पता चलता है कि मध्य गंगा के मैदान में राज्य कायम हो चुके थे। कहीं-कहीं दुर्गों में उ.कृ.मा.मृ. के अवशेष मिले हैं। उ.कृ.मा.मृ. (N.B.P.W) के अतिरिक्त दुर्गो से लोहे के वाणों, भालों के शीर्ष, बर्छे, कुल्हाड़ियाँ, चाकू के फलक मिलते हैं। संभवत: सैनिक इनका इस्तेमाल करते रहे होंगे।

दुर्गों के साथ कहीं कहीं निखात (moat) के साक्ष्य मिले हैं। इस प्रकार के शहर को शासन केन्द्र का प्रतीक माना जा सकता है। इनमें कौशाम्बी, राजघाट, पुराना राजगीर और चम्पा के प्राचीर अधिक प्राचीन हैं। इन नगरों में बनाये गये मिट्टी के प्राचीर का काल छठी-पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। डी.के. चक्रवर्ती (1988:215) तथा जी.एरडोसी (1988:109) का मानना है कि चम्पा का प्राचीर सर्वप्रथम उ.कृ.मा.मृ. (Pre N.B.P.W) काल में बनाया गया था। चम्पा में मिट्टी के बने प्राचीर में उ.कृ.मा.मृ. के ठीकरे, सिक्के, मुहरें, तथा प्लास्टर युक्त ईट मिली है। ए. घोस (1973:62) के अनुसार कौशाम्बी

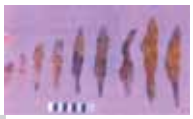

के प्राचीर सर्वप्रथम प्राक्. उ.कृ.मा.मृ. (Pre N.B.P.W) काल में बना था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मध्य गंगा के मैदानों में दुर्गों का निर्माण ईसा पूर्व छठी शताब्दी से प्रारंभ हो गया था। इस काल तक लोहे का हथियार अधिक इस्तेमाल होने लगा था, जिससे सुरक्षा की समस्या बढ़ गई थी। सम्भवत: इसी वजह से दुर्गों के निर्माण होने लगे।

प्रारंभिक अवस्था के सभी प्रमुख नगर नदी के किनारे और व्यापारिक मार्गों के पास बसे थे और एक दूसरे से जुड़े थे। श्रावस्ती, कौशाम्बी और वाराणसी व्यापारिक मार्ग से जुड़े थे। बुद्ध के काल में वाराणसी एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। व्यापारिक मार्ग श्रावस्ती से पूर्व और दक्षिण की ओर निकलकर कपिलवस्तु और कुशीनगर (कसिया) होते हुए वाराणसी तक गया था। व्यापारी पटना में गंगा पार करके राजगीर जाते थे। वे नदी मार्ग से आधुनिक भागलपुर के निकट चम्पा जाते थे। यदि जातक कथाओं को आधार माने तो कोसल और मगध के व्यापारी मथुरा होते हुए उत्तर की ओर बढ़ते-बढ़ते तक्षशिला तक पहुँच जाते थे। इसी तरह वे मथुरा से दक्षिण और पश्चिम की ओर बढ़ते-बढ़ते उज्जैन और गुजरात के समुद्रतटीय प्रदेश तक पहुँच जाते थे।

नगरीकरण का दूसरा चरण लगभग 300 ई.पूर्व. प्रारंभ होता है। 300 ई०पू० तक नगरीकरण का पूर्ण विकसित स्वरूप दिखाई देता है। इस काल में 2,70,000 लोग पाटलीपुत्र में, 60,000 लोग मथुरा में, 48,000 लोग विदिशा (वेसनगर) और वैशाली में, 40,000 लोग कौशाम्बी और पुराने राजगीर में और 38,000 लोग उज्जैन में रहते थे। इससे पहले इतनी बड़ी आबादी की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस चरण में पुराने लक्षणों के अतिरिक्त छल्लेदार कुएं (Ring Wells) शोषगर्त्त (Soak pit), पक्की ईंटों के मकान, लेखन कला आदि के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। साथ ही चाँदी और ताँबे के आहत सिक्के बड़ी संख्या में मिलते हैं। इन सिक्कों के निर्माण में लौह तकनीक से अवश्य मदद मिली होगी। लौह तकनीक के क्रमिक विकास तथा क्रमिक आर्थिक उन्नति के अवलोकन से ज्ञात होता है कि ज्यों-ज्यों लौह तकनीक का विकास हुआ, त्यों-ज्यों आर्थिक उन्नति होती गई ओर नगरों का विकास होता गया।

इस इलाके में लौह तकनीक उन्नति की सभी परिस्थितियाँ उपयुक्त थी। आस-पास में स्थित छोटानागपुर के पठारों में लौह अयस्क आसानी से उपलब्ध हो जाता था, अत: लोहे के उपकरणों का प्रयोग खूब बढ़ा। शस्त्रास्त्रों पर राज्य का अधिकार था, पर लोहे के अन्य औजारों का प्रयोग किसी वर्ग तक सीमित नहीं था। इनका इस्तेमाल और निर्माण-शिल्प गंगा के मैदान से मौर्य साम्राज्य के सुदूर भागों में भी फैल गया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य गंगा के मैदान की भौतिक संस्कृति के तत्व, कुछ परिवर्तनों के साथ उत्तरी बंगाल, कलिंग, आन्ध्र और कर्नाटक में भी पहुँचे। इनमें संदेह नहीं कि इन क्षेत्रों की अपनी संस्कृतियाँ भी स्वतंत्र रूप से पनप रही थीं। बांग्लादेश में जहाँ जिला बोगरा में मौर्य ब्राह्मी लिपि में महास्थान अभिलेख पाया गया है, वही दिनाजपुर जिले के बानगढ़ में उ.कृ.मा.मृ. (N.B.P.W) मिले हैं। ऐसे मृद्भाण्ड के टुकड़े पश्चिम बंगाल के चौबीस परगना जिले के चन्द्रकेतुगढ़ में भी मिले हैं। उड़ीसा के शिशुपालगढ़ में भी गंगा क्षेत्र के सम्पर्क के लक्षण दिखाई देते हैं ओर इसमें उ.कृ.मा.मृ के साथ-साथ लोहे के उपकरण और आहत मुद्राएँ मिली हैं। चूंकि शिशुपालगढ़ और धौली, जौगढ़ के पास हैं, जहाँ भारत के पूंर्व समुद्रतट के गुजरने वाले प्राचीन राजमार्ग पर अशोक के शिलालेख पाये गये हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में भौतिक संस्कृति मगध के साथ संपर्क के परिणामस्वरूप पहुँची होगी।

मौर्यकाल तक उत्तम किस्म के इस्पात का निर्माण होने लगा था। अत: लोहे के अधिक कारगर औजार बनने लगे जिससे पत्थरों को आसानी से तराशा जा सकता था। अत: इस काल में पत्थर की इमारत बनाने का काम बड़े पैमाने पर आरंभ हुआ। मेगास्थनीज ने कहा है कि पाटलिपुत्र स्थित मौर्य राजप्रसाद उतना ही भव्य था, जितना ईरान की राजधानी में बना राजप्रसाद (सूसा)। प्रस्तर स्तंभों के अवशेष (Stump) कुम्हरार (पटना) में पाये गये हैं, जो 80 स्तंभों वाले विशाल भवन के

आ : लौह उपकरणों का अवशेष, चम्पा

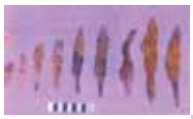

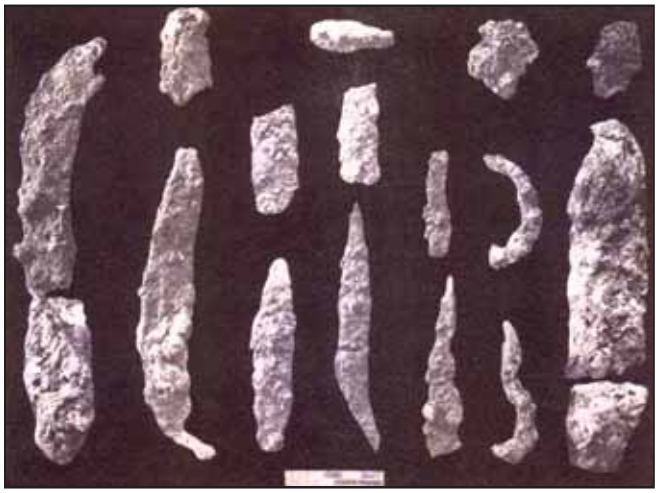

चम्पा (बिहार) से प्राप्त उ.कृ.मा.मृ. (600-200 ई०पू०) कालीन विभिन्न लौह उपकरण

अस्तित्व का संकेत देते हैं। इन स्तंभ अवशेषों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि मौर्य शिल्पी पत्थरों पर पॉलिश करने में दक्ष थे। यद्यपि प्रस्तर स्थापत्य कला में हड़प्पा संस्कृति के लोग भी बड़े दक्ष थे। धौलावीरा में प्रकाश में आये जलाशय (Reservoirs) तथा राजप्रासाद द्वार (Citadel Gateway) देखने से प्रतीत होता है कि हड़प्पावासी प्रस्तर की कारीगरी में भी बड़े निपुण थे। उन्होंने प्रस्तर कारीगरी में कांस्य के बने औजारों का प्रयोग किया होगा। यह विदित है कि कांस्य का निर्माण तांबे और टीन के मिश्रण (लगभग 80:20) से होता है। भारत में टीन का उत्पादन अत्यन्त सीमित मात्रा में होता था। अत: टीन का आयात अफगानिस्तान एवं अन्य देशों से किया जाता था। फलत: हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने कांस्य का प्रयोग बहुत कम किया था। मध्य गंगा के मैदानों में भी कांस्य के प्रयोग के प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। यहाँ से लौह उपकरण जैसे कुल्हाड़ी, छेनी, हथौड़ी, रूखानी, बसूला, आदि के अधिक अवशेष मिलते हैं। बराबर की पहाड़ियों में बने मौर्यकालीन गुफाएँ विशेषकर दो कक्ष वाले लोमश ऋषि गुफा का एक कक्ष जो अर्धनिर्मित है, उसमें छेनी के निशान साफ दिखाई पड़ते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि मौर्य कालीन प्रस्तर स्तंभ तथा आजीवक सम्प्रदायों के निवास हेतु बराबर और नागर्जुनी की पहाड़ियों में निर्मित मौर्यकालीन गुफाएँ लोहे के औजारों की मदद से बनी होगी।

मौर्य तथा शुंग काल में बौद्ध निर्माण में पत्थरों का व्यापक प्रयोग दिखता है। यह लौहे के उपकरणों के प्रयोग से ही संभव हो सका होगा। गुप्तकालीन मेहरौली के लौह स्तंभ तथा बाद में बने धार (म.प्र.) एवं माउंट आबू (राजस्थान) के लौह स्तंभ एवं कोणार्क के धरण (Beams) विकसित लौह तकनीक की देन है। इस प्रकार लोहे का तकनीकी विकास एवं भौतिक संस्कृति का विकास में स्पष्ट सम्बन्ध देखा जा सकता है। एक ओर लौह उपकरणों का विविध प्रकार, उनकी संख्या तथा गुणवत्ता में वृद्धि होती परिलक्षित होती है, तो दूसरी ओर भौतिक समृद्धि कुछ मानकों द्वारा मापी जा सकती है। बड़े सुसम्पन्न एवं विकसित ग्राम में कला की उत्कृष्ट नमूने, बहुमूल्य वस्तुओं का प्रयोग, यह इंगित करता है कि लौह तकनीक के विकास से ही विविध भौतिक संस्कृति का विकास संभव हो पाया। यहाँ बहुधा शंका उठाई जाती है कि यदि लोहे का योगदान आर्थिक समृद्धि में था तो क्यों उसके आविष्कार के कई शताब्दियों बाद तक भी नगरों या समृद्ध केन्द्रों का विकास नहीं हो पाया। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि लोहे का प्रयोग प्रारंभ में बहुत कम मात्रा में तथा अति सीमित कार्यों जैसे आखेट एवं युद्ध आदि के लिए किया गया था। प्रारंभ में शुद्ध लोहे का प्रयोग किया जाता था, जो तांबे से अधिक मजबूत नहीं रहा होगा। आर्थिक समृद्धि के लिए उसका प्रयोग द्वितीय चरण में उत्तरी कृष्णमार्जित मृद्भाण्ड में प्रारंभ हुआ। इस काल में लोहे से इस्पात बनना आरंभ हुआ जिसके कारण अधिक से अधिक नए क्षेत्रों में लोहे का प्रयोग होना लगा। परिणामस्वरूप भौतिक संस्कृति का बहुमुखी विकास हुआ।

डा० सर्जुन प्रसाद
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण,
केन्द्रीय पुरावशेष संकलन अनुभाग,
पुराना किला, नई दिल्ली-110001

प्राचीन मनसर महाविहार की ऐतिहासिक खोज

डॉ. ब्रजेश कुमार

प्राचीन मनसर महाविहार महाराष्ट्र के नागपुर मण्डल के मनसर नामक स्थान पर स्थित है। यहां करीब 6 साल से भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के पुरातत्व विशेषज्ञों द्वारा उत्खनन कार्य के पश्चात यह महाविहार प्रकाश में आया।

विश्व ज्ञान की जननी भारत भूमि में ज्ञान के अनेक दीपक प्रज्वलित हुए जिन्होंने अपनी स्वर्णमय ज्योत्सना में विश्व समुदाय को ज्ञान का मार्ग दिखाया। प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैलता रहा। कालांतर में विश्वविद्यालय शिक्षक व्यवस्था के तहत भारत में अनेक महाविहारों की स्थापना हुई।

प्राचीन काल की गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वाह करने वाला ऐसा ही एक महाविहार था मनसर महाविहार जो अशोक कालीन और सातवाहन काल से लेकर 12वीं सदी के लगातार ज्ञान का प्रकाश फैलाता रहा। आज उस शिक्षा और संस्कृति के महान केन्द्र के अवशेष मात्र बचे हैं, किन्तु उन विशाल खंडहरों को देखकर प्राचीन महाविहार की बुलंदी का अनुमान लगाया जा सकता है। भारत ही नहीं विदेशों चीन, कोरिया, तिब्बत आदि देशों के छात्र भी यहां शिक्षा पाते थे। यहाँ

देवियों की प्रतिमा (बोधिसत्व प्रतिमा)

मुख्यत: बौद्ध धर्म की शिक्षा, साहित्य और दर्शन के अतिरिक्त चारों वेदों, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, व्याकरण, सांख्ययोग, न्याय-दर्शन, चिकित्सा-विज्ञान, शिल्प आदि विधि विषयों का अध्ययन होता था। ग्रह-नक्षत्र आदि को देखने और उनका अध्ययन करने के लिए यहाँ एक वेधशाला भी होने का अनुमान लगाया जाता है। व्याख्यान, वाद-विवाद, व्यक्तिगत सहायता, निर्देशन आदि के द्वारा शिक्षा दी जाती थी। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार चीन से भारत की यात्रा पर आए यात्री ह्वेनसांग और इत्सिंग ने भी यहां शिक्षा ग्रहण की थी।

अपने ज्ञान को संपूर्ण करने और उसमें वृद्धि करने के लिए अनेक विद्वान, पंडित और आचार्य यहां आते थे। यहां प्राय: सभी प्रसिद्ध विद्वानों ने शिक्षण और अध्ययन का कार्य किया था। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा संस्मरण में लिखा है कि वे सभी आचार्य और विद्वान अपने चरित्र, आचार-विचार, नैतिकता, आदर्श, विद्वता और गुणों में देव तुल्य थे। वे अपने ज्ञान और पांडित्य के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। उनका चरित्र उज्ज्वल और निर्दोष था। उनका दैनिक जीवन भारत के प्राचीन ऋषियों के समान था। यहां के कतिपय प्रसिद्ध विद्वान आचार्यों के नाम इस प्रकार थे—नागार्जुन, आर्यदेव, धर्मपाल, चन्द्रपाल, नागसेन, गणपति, स्थिरमति, प्रभाकर, मित्र, अंग, वसुबंधु, जिनमित्र, भद्रसेन, शांति रक्षित आदि। आचार्य शांतिरक्षित के समय प्राचीन मनसर महाविहार की कीर्ति विश्वव्यापी हो चुकी थी और विश्वविद्यालय के एक अन्य कुलपति नागार्जुन अपने समय के अद्वितीय विद्वान थे। ऐसे अद्वितीय विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करना कम प्रतिष्ठा की बात नहीं थी। लेकिन इसके नियम और उपनियम भी उतने ही कठोर थे। ऐतिहासिक विवरण के अनुसार विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना ही अपने आप में एक दुर्लभ कार्य था। प्रवेश के इच्छुक प्रत्येक छात्र के लिए प्रवेश परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य था।

इस विश्वविद्यालय की व्यवस्था भी बड़ी व्यवस्थित थी। प्राचीन मनसर महाविहार एक संघबद्ध संस्था थी। इसमें सभी महाविहार और विहार भी संघ के समान कार्य करते थे। प्रत्येक के संचालन और

व्यवस्था के लिए एक परिषद् होती थी। महाविहार के अधिकारीयों में द्वार-पंडित (शिक्षार्थियों की प्रवेश परीक्षा का संचालक), धर्म कोश (कुलपति), कर्मदान (उप-कुलपति) आदि नियुक्त होते थे।

मनसर महाविहार शिक्षण संस्थान में 5,000 छात्र और 500 शिक्षक थे। इस महाविहार में शिक्षा प्रणाली अत्यंत व्यवस्थित और अनुशासित थी। किन्तु इस प्रकार की शिक्षा के लिए विशाल भवन की आवश्यकता थी। मनसर महाविहार के वर्तमान खण्डहरों को देखकर ज्ञात होता है कि इतने बड़े महाविहार की स्थापना एक बार ही नहीं की गई थी, वरन् इसका विकास धीरे-धीरे हुआ था।

ऐतिहासिक तथ्यों के मुताबिक महाविहार के भवन प्रवेश द्वार से प्रवेश करने पर भव्य भवन विद्यमान थे, मुख्य रूप से आठ भवन थे। किन्तु शेष भवनों की खुदाई के पश्चात ज्ञान होगा, जिनका निर्माण विद्या-प्रेमी राजाओं और धनवानों ने करवाया था। महाविद्यालय भवन के निर्माण के लिए अनुदान अन्य राजाओं ने भी दिया था। प्राचीन मनसर महाविहार के अन्दर छात्रों के निवास के लिए अलग-अलग भवन थे। जहां अध्ययन और विकास की समस्त सुविधाएं उपलब्ध थीं। इस महाविहार में लगभग 12 मीटर ऊँचा एक भव्य बुद्ध विहार था, केन्द्रीय देवालय था और बोधिसत्व मूर्तियों का अवशेष भी ज्ञात हुआ है।

प्राचीन मनसर महाविहार के अन्दर एक विशाल पुस्तकालय भी था। इसको धर्मगंज कहते थे। पुस्तकालय के तीन भव्य भवन के अवशेष ज्ञात हुए हैं। इस पुस्तकालय में धार्मिक और तांत्रिक ग्रंथों का संग्रह था। बौद्ध भिक्षुओं के निवास और अध्ययन हेतु पृथक भवन कक्ष थे। विश्वविद्यालय के संचालक के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती थी। यहां अध्ययन करने वाले छात्रों को शिक्षा नि:शुल्क दी जाती थी, क्योंकि विश्वविद्यालय को राजाओं और सम्राटों तथा धन सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा पेक्षित संपत्ति दान के रूप में प्राप्त होती थी।

वर्तमान में इस महाविहार का विशाल खण्डहर अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है। इसका पता जापान मूल के प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु भन्ते आर्य नागार्जुन सुरई ससाई, पूर्व सदस्य, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, भारत सरकार के द्वारा भारत के प्राचीन इतिहास का गहन अध्ययन करने पर पता लगाया कि नागार्जुन की पहाड़ियों में ही नागार्जुन की मूल जन्मभूमि होने की सम्भावना है। जिसके पश्चात उन्होने अपने संस्थान बोधिसत्व नागार्जुन मेमोरियल अनुसंधान केन्द्र के माध्यम से भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के पुराविद अधिकारियों के द्वारा खुदाई का शुभारम्भ वर्ष 1998 से वर्ष 2004 तक लगातार करवाया। जिसके पश्चात प्राचीन मूर्तियां भी प्राप्त हुई इसके अतिरिक्त मिट्टी के बहुत सारे बर्तनों का भी पता चला। पत्थरों में शिलालेख का भी अवशेष का संग्रह मनसर पुरातात्विक संग्रहालय में देखने को मिलता है। किन्तु अभी शेष खुदाई करवाना बाकी है।

अत: इन प्राचीन मनसर महाविहार का पता लगाने का श्रेय पूज्य भदन्त आर्य नागार्जुन सुरई ससाई को जाता है, क्योंकि उन्होंने इस प्राचीन विहार का पता भारत के इतिहास का गहन अध्ययन करने के पश्चात लगाया कि मनसर महाविहार के प्राचीन अवशेष नागार्जुन पहाड़ियों में स्थित हैं। जिसके पश्चात उन्होंने बोधिसत्व नागार्जुन मेमोरियल अनुसंधान संस्थान के द्वारा भारतीय पुराविदों के सहयोग से खुदाई का शुभारम्भ करवाया। खुदाई के पश्चात प्राचीन मनसर महाविहार को प्रकट करने का स्वप्न पूरा हुआ। नागार्जुन की पहाड़ियों में नागार्जुन के शरण-स्थल के साथ-साथ आयुर्वेद विज्ञान का महत्वपूर्ण केन्द्र होने का भी अनुमान लगाया जाता है, क्योंकि खुदाई के क्रम में बहुत सारे मिट्टी के बर्तनों में दवाइयों की गोलियों के अवशेष भी मिले। तत्कालीन आयुर्वेद विज्ञान के विकास का श्रेय आचार्य नागार्जुन को हो जाता है।

इस प्रकार पुराविदों और इतिहासविदों का मानना है कि भदन्त सुरई ससाई आधुनिक युग के द्वितीय कर्नांधम हैं जिसका नाम इतिहास के स्वर्ण अक्षरों के दर्ज हैं, क्योंकि कनिंघम की तरह जापान से आकर भारत के इतिहास के अध्ययन के पश्चात यह तय किया, अमुक स्थान को प्रमाणित किया कि यही प्राचीन मनसर महाविहार है। आपने भारत के अनेक बौद्ध स्थलों का पता लगाया। पहले प्राचीन मनसर महाविहार के ऐतिहासिक स्थल की खोज की, तत्पश्चात छत्तीसगढ़ के सिरपुर में भी एक प्राचीन बौद्ध विहार का पता लगाया। इसी तरह आपने कई अन्य ऐतिहासिक बौद्ध स्थलों की खुदाई की सम्भावना भी जताई है। भदन्त सुरई ससाई जैसे बौद्ध विद्वानों को समस्त भारतीयों द्वारा सहयोग प्रदान करना चाहिए ताकि पुरातात्विक महत्व के कार्यों को गतिपूर्ण तरीके से आगे बढ़ाया जा सके।

मनसर से उभरता विदर्भ का इतिहास

बोधिसत्व नार्गाजुन स्मारक संस्था व अनुसंधान केंद्र के महती प्रयासों से मनसर महाविहार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पता चला है। यह कोई मामूली घटना नहीं है। यदि यह कार्य और आगे बढ़ता है तो विस्मृत बौद्ध विरासत के न जाने कितने अनछुए पहलु हमारे

प्राचीन मनसर विहार की भव्य इमारतों का अवशेष

सामने प्रकट हो सकते हैं। आइये अब हम मनसर महाविहार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पड़ताल करें।

पाषाण काल

नागपुर से 40 कि.मी. उत्तर-पूर्व में जबलपुर राष्ट्रीय मार्ग पर स्थित है सतपुड़ा की आखिरी पहाड़ियों की शृंखला। इन पहाड़ियों की गोद में बसा है छोटा सा कस्बा मनसर। यहीं से रामटेक के लिए रास्ता फूटता है। चौराहे से 9 कि.मी. रामटेक की ओर आगे बढ़ने पर आपका ध्यान स्वयं की सड़क के उत्तर में खड़ी हिडिम्बा टेकड़ी पर चली जाएगी क्योंकि 1998 से चल रहे पुरातात्विक उत्खनन में निकले विशाल काय अवशेष आपको स्वयं पुकारने लगेंगे। थोड़ा आगे बढ़ने पर मैंगनीज ओर इंडिया लिमिटेड के बोर्ड के ऊपर आपको दिखेगा प्राचीन ईंटों से बना एक विशाल खंडहर। ये देन हैं विदर्भ व भारत की जनता को, बोधिसत्व नार्गाजुन स्मारक संस्था व अनुसंधान केन्द्र, नागपुर की। संस्थाओं के अध्यक्ष पूज्य भिक्खु आर्य नार्गाजुन सुरई ससाई की दूरदर्शिता तथा उत्खनन में लगे विशेषज्ञों ने अपनी लगन एवं अथक परिश्रम से यह साबित कर दिया है कि महाराष्ट्र सरकार के सहयोग के बिना भी, कम पैसों में कड़ी मेहनत से कैसे विदर्भ के इतिहास के सबसे सुनहरे पन्नों को पल्टा जा सकता है।

मनसर के ऐतिहासिक वैभव का सर्वप्रथम उल्लेख नागपुर के लोक निर्माण विभाग के 1906 के नोट नं. 112 में मिलता है। तत्पश्चात् 1908 के नागपुर गजेटियर में मनसर के प्राचीन स्थल होने का वर्णन है। इसमें यहां पर गुप्तकालीन ईंटों तथा बौद्ध विहार के अवशेष होने का उल्लेख है। 1928 में यहां से मूर्तियों के टुकड़े आदि प्राप्त हुए, जिसके आधार पर *अल-प्रन्डे* स्टेड द्वारा विस्तृत सर्वेक्षण करने पर मनसर झील के चारों ओर फैले किसी बड़े नगर के ध्वंसावशेष जो कि 3 कि.मी. पूर्व-पश्चिम तथा 2 कि.मी. उत्तर-दक्षिण तक फैले थे, प्रकाश में आए। मूर्तियों के टुकड़े, जिनमें से कुछ नागपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं, ईसा के बाद प्रथम-द्वितीय शताब्दी के प्रतीत होते हैं। 1928 में हिडिम्बा टेकड़ी से मंदिरों के अवशेष एवं विभिन्न प्रकार की मूर्तियां प्राप्त हुई थीं। टी.ए. वेबस्टेड महोदय ने विस्तृत सर्वेक्षण करके एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के न्यू सीरीज, वाल्यूम XX13 1993 अंक में मनसर के उत्तर में स्थित मैंगनीज खदान से ईंटों से बनी चिति का हवनकुंड मिलने का वर्णन किया है। चिति से उन्हें घोड़े की जली हुई हड्डियां, मिट्टी के बर्तन, लोहे के हड्डियां तथा हवन कुंड का आकार वहां पर अश्वमेघ यज्ञ होने का प्रमाण देते हैं। प्राचीन स्मारक संरक्षण कानून 1904 के तहत 30 जून 1935 को इस स्थल को भारत सरकार द्वारा संरक्षित घोषित किया गया। सन 1972 में हिडिम्बा टेकड़ी से लाल पत्थर की बनी हुई वाकाटक कालीन ह्रष्व-तामन की मूर्ति प्राप्त हुई थी, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में स्थापित है। टेकड़ी में पांचवीं शताब्दी के शंख लिपि के अनेक शिलालेख भी हैं।

मनसर में चल रहे उत्खनन के डायरेक्टर माननीय अरूण कुमार शर्मा ने पिछले छः वर्षों से किसी निजी संस्था द्वारा भारत में चल रहे सबसे बड़े उत्खनन एवं संरक्षण कार्य की उपलब्धियों की विस्तृत जानकारी देते हुए बताया कि मौर्य काल से लेकर वाकाटक एवं विष्णुकंडिन काल तक करीब 9,000 वर्षों का इतिहास जिसकी खंडित जानकारी

विबिन्न स्थानों से मिले ताम्रपत्रों से प्राप्त की, उसका इस उत्खनन ने प्राय: पूर्वरूपेण साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए अनेक रोमांचकारी तथ्य सामने विद्यमान हैं। उन्हें अफसोस यह है कि इस अति महत्वपूर्ण पुरातित्वक स्थल का उत्खनन महामहोपाध्याय डॉ. व्ही.व्ही. मिवाज्ञी के जीवनकाल में नहीं हो सका।

सतपुड़ा शृंखला के दक्षिणी भाग की अंतिम पहाडियां आदि काल में ही मनुष्य के लिए पूजनीय रही हैं। और प्राय हर ऊंची पहाड़ी पर कोई न कोई धार्मिक या महत्वपूर्ण स्थल के अवशेष हैं। उन्हें प्रकाश में लाने की बहुत आवश्यकता है। बाजार गांव, मनसर, रामटेक, अंबागढ़, कचरगढ़ कुछ ऐसे ही स्थल हैं।

मनसर की पहाड़ियां जो पूर्व पश्चिम दिशा में शृंखलाबद्ध हैं ओर अधिकांश ग्रेनाईट एवं जल निर्मित चट्टानों (रामटेक) से बनी हैं, अनेक खनिज एवं कोयले के भंडार भी हैं। इन्हीं शृंखलाओं से हमें आज मिल रहे हैं कोयला, मेंगनीज, चूना पत्थर, लोहा इत्यादि। हालही में रामटेक से लेकर पेंच घाटी तक उत्तम कोटि के तांबे के भंडार का पता चला है। यह सुखद आश्चर्य है कि आज से 2200 वर्ष पूर्व भी इस क्षेत्र के निवासी इन भंडारों का उपयोग करते थे जैसा कि मनसर-उत्खनन से प्राप्त प्रमाण बताते हैं। तांबे के भंडार का पता तो हमें अभी लगा है पर हमें उत्खनन में लोहे एवं तांबे के ड्रिले मिले हैं जो दो हजार वर्ष पूर्व ही उपयोग में आए थे।

मनसर के घने जंगलों से आच्छादित पहाड़ियों एवं घाटियों को जहां पानी की कोई कमी नहीं थी, आदि मानव ने दो लाख पचास हजार वर्ष पूर्व से ही अपनी भ्रमण स्थली बना ली थी। हिडिम्बा टेकड़ी तो उनकी पूजनीय स्थली थी। इस टेकड़ी (पहाड़ी) एवं उसके आस-पास के इलाके से प्राचीन मध्य एवं पाषण युग के अनेक औजार प्राप्त हुए हैं। इनमें शिकार करने के औजारों के अलावा, काटने के, छेद करने के तथा खोल देने के अवतार शामिल हैं। प्राचीन एवं मध्य पाषाण युग के औजरों का निर्माण जहां अधिकतर ग्रेनाईट में फंसे स्पाटिक टुकड़ों से किया गया है वहां सूक्ष्म औजारों का निर्माण (ज्योमितिक तथा अज्यामितिक) सूक्ष्म कणों वाले चटे, चेलसी डोनी, अगेट आदि अग्नि निर्मित चट्टानों से किया गया है। पश्चिमी विद्वानों द्वारा फैलाए गए भ्रम कि आदिमानव पूर्णरूपेण मांसाहारी थे जिनेक विरुद्ध हमें प्रापत औजारों के खोदने एवं काटने के औजारों का पर्याप्त है। यह प्रमाण साबित करता है कि शिकार के अलावा भारत का आदिमानव वनों में प्रचुरता से उपलब्ध कंद मूलों एवं फलों पर अधिक आश्रित था जैसा कि आज के आदिवासी अभी भी करते हैं।

माननीय शर्मा ने बताया कि पाषाण काल की मनसर की सबसे बड़ी देन हैं पहाड़ी के मध्य में स्थित दक्षिण मुखी 3.70 मीटर ऊंची और 2.10 मीटर चौड़ी मानुषी आमृति नाली प्रतिमा। इस प्रतिमा को 4.50 मीटर आयताकारा चबूतरे पर रखा गया है। प्रतिमा के सामने 7.50 लंबा एवं 2.70 मीटर चौड़ा अर्धचंद्राकार खुला प्रांगड़ है, भक्तो के एकत्रित होने के लिए। क्या यह प्रमाण पर्याप्त नहीं है कि मनुष्य आदिकाल से ही मूर्तिपूजक था एवं अपने रक्षक की कल्पना कर सकता था। हमें गर्व है कि भारत की मानव निर्मित सबसे प्राचीन प्रतिमा हमने विदर्म में खोज निकाली।

औजारों के अंतर्गत प्राचीन पाषाणकाल में कुल्हाड़ी, क्लीभर (फन्नी), प्वाइंट, स्क्रेपर, चापर आदि मध्य पाषाण काल में इन्हीं औजारों का कुछ छोटा रूप तथा सूक्ष्म पाषाणकाल में प्वाईंट, बोरर, ब्लेड, ऑल, ट्रेंगल, स्क्रेपर, तीर की नोक, ब्यूरिन आदि औजार बनाए गए। आदि मानव इस क्षेत्र में स्वच्छंद रूप से विचरण करता था। उसकी बुद्धि का काफी विकास हो चुका था तभी तो वह अपने आदिदेव की कल्पना कर सका।

डॉ. ब्रजेश कुमार
सारिपुत्र, पुरातत्व संग्रहालय
नालन्दा (बिहार)

विक्रमशिला : उत्खनन, संरक्षण और आगे का कार्यक्रम

मुहम्मद के० के०

धर्मपाल (783 से 820 ईस्वी) द्वारा स्थापित विक्रमशिला विश्वविद्यालय की पहचान और स्थल-निर्धारण, निश्चित साक्ष्य के अभाव में, सही निष्कर्ष पर पहुँचने में बाधित हो रहा था। नालन्दा[1] के निकट सिलाव को विक्रमशिला के रूप में एलेक्जेण्डर कनिंघम द्वारा की गई पहचान को स्वीकार नहीं किया गया। चूँकि यह गंगा से बहुत दूर है और तिब्बत के यात्रियों द्वारा किये गये वर्णन से मेल नहीं खाता है जिन्होंने उस स्थल को देखा था। अतिशा के ब्रूम-टोन के जीवन-वृत्त से स्पष्ट संकेत मिलता है कि वह विश्वविद्यालय गंगा नदी के किनारे एक पहाड़ी के ऊपर ऊँचाई पर स्थापित था। नन्दलाल डे ने इसे पाथरघाट (पुराना नाम सिंहासन ग्राम) से समीकृत किया है। यद्यपि यह पहचान ब्रूम-टोन द्वारा दिये गये वर्णन से मेल खाती है कि गंगा नदी के किनारे पर पहाड़ी के ऊपर विश्वविद्यालय स्थापित है लेकिन उस स्थल के समन्वेषण और उत्खनन से ऐसा कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ जिसके आधार पर कोई भी पाथरघाट[2] को विक्रमशिला के रूप में निर्धारित कर सके। चूंकि पाथरघाट[3] की सभी प्रतिमाएँ और चौखटे (पट्टियाँ) ब्रह्मणीय हैं और यह स्थल बौद्ध-चिह्नों (अवशेषों) से अछूता है, जो स्थल का अगला परीक्षण और विश्लेषण के बगैर विक्रमशिला के रूप में इसकी पहचान त्याज्य है। विद्याभूषण जैसे विद्वानों ने इसकी पहचान सुल्तानगंज से की है और बनर्जी शास्त्री ने इसे केयूर के निकट हुलासगंज समीकृत किया है तथापि एन के मिश्र और एल के मिश्र ने अन्तीचक गांव में स्थित टीला को विक्रमशिला बताया है जिसके बारे में बुचान द्वारा 1811 ई० में एक राजा के मकान के रूप में पहले ही वर्णन किया जा चुका है।

फिर भी, समस्त साहित्यिक आंकड़ों को देखने के बाद डॉ० बी.पी. सिन्हा विश्वस्त हुए कि विक्रमशिला और कहीं नहीं हो सकता और उन्होंने इस स्थल की भू-आकृति, टीला की ऊँचाई-निचाई और आसपास के बेढंगे क्षेत्रों का अध्ययन कर आगे ख़ोज-बीन की। सुनसान खण्डहरों ने उन्हें अद्‌भुत रूप से प्रभावित किया। विस्मयकारी परिज्ञान से सम्पन्न वे सुविख्यात विश्वविद्यालय को मलबे के नीचे दबे देख सके जो सदियों से इस पर जमा हो गया था।

स्तूप के बाकी हिस्से, प्रार्थना स्थल (गिरजाघर), दोनों चबूतरे और बेडौल आकृतिवाले विहार-समूह का उत्खनन डॉ. बी.एस. वर्मा द्वारा अति सावधानी और शुद्धता से पूरा किया गया। डॉ० वर्मा भूमि-अधिग्रहण की प्रक्रिया को शुरू करने में बहुत ही व्यवहारिक थे। तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री भागवत झा आजाद ने उत्खनन योजना में

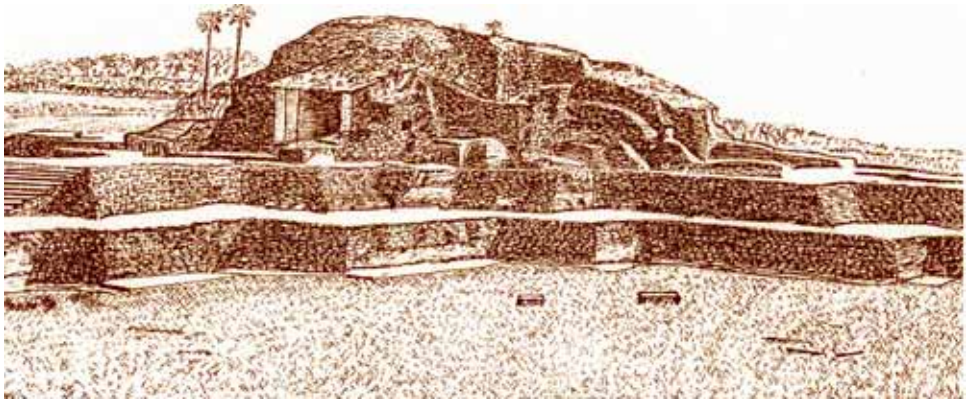

विक्रमशिला विश्वविद्यालय (8वीं सदी ई०), के भग्नावनशेष
अन्तीचक (कहलगांव) भागलपुर (बिहार प्रदेश)

विलक्षण रूचि दिखाई।

उघाड़ा गया विहार (मठ) 330 वर्ग मीटर की नाप का चौकोर है जिसका विन्यास केन्द्र को आच्छादित करते हुए दुहरे छत वाले चैत्य के साथ था। 56 मीटर × 56 मीटर के नाप का क्रूस (+) के आकार वाले चैत्य में उभरे मण्डप के साथ शिखरयुक्त चार कक्ष हैं। शिखर विशेष में चूना-पलस्तर की बुद्ध-प्रतिमाएँ विभिन्न मुद्राओं में ग्रेनाईट स्तम्भ अथवा पीछे की दीवार से टिकी हैं। शिखर का सम्मुख मण्डप ग्रेनाईट स्तम्भ पर टिका है। उत्तरी मण्डप में वैदिक कर्म सम्बन्धी पवित्र जल रखने के लिए दबे हुए छः पात्र हैं।

स्तूप की दो छतें हैं जिसमें से प्रत्येक में धार्मिक, पौराणिक और पशुभाव को प्रदर्शित करती हुई कई धातु सज्जित मृणमूर्तियाँ हैं। पूरे चैत्य की ऊँचाई 16.25 मीटर है जिसमें एक ही प्रवेश द्वार है जिस तक पहुंचने के लिए 75 × 11 मीटर का एक रास्ता बना हुआ है। सूर्यास्त के समय दरवाजा बन्द होता था। विहार परिसर में इस ओर से पूर्व और पश्चिम में हवा निर्गत की जाती थी।

विहार में 4.15 × 4.15 मीटर की नाप की 208 कोठरियाँ हैं और इसमें 3.10 मीटर चौड़ा बरामदा साथ में है। बरामदा की छत एक ही प्रस्तर-खंड से बने स्तम्भों पर टिकी हैं। कुछ गिरे हुए स्तम्भों और स्तम्भों की नींव स्थल पर अभी भी मौजूद है। विहार की बाहरी दीवाल में 21 से 23 मीटर की दूरी पर प्रलम्बित बीस वृत्ताकार और बीस आयताकार कोठरियां हैं। इन कोठरियों के प्रत्येक कमरे में तीन बिस्तर की सुविधा उपलब्ध है। तथापि सामान्य कोठरी में एक ही बिस्तर का प्रावधान है। पाल कालीन नालन्दा (विहार) में प्रत्येक कमरे में दो बिस्तर हैं। विक्रमशिला की एक अनोखी कृति इसके एक दर्जन भूमिगत, लगभग 1.35 मीटर गहराई पर कोठरियां हैं जिसके साथ 0.95 × 0.95 मीटर की नाप का वृत्ताकार निकास सम्बद्ध है। ये भूमिगत कोठरियां अवश्य ही सन्यासियों के द्वारा, दूसरों के व्यवधान के बिना, ध्यान-योग के लिए प्रयोग किये जाते होंगे। अपोलोनियस के अनुसार भारत के पश्चिमोत्तर तक्षशिला में इस प्रकार के भूमिगत कमरे थे। मार्शल द्वारा किये गये उत्खनन से आगे यह निश्चित हुआ। कालिदास ने भी रघुवंशम् में इस प्रकार की जल से शीतल की गई भूमिगत कोठरियों का संदर्भ प्रस्तुत किया है। लेकिन ये भूमिगत कोठरियों, जो उत्तर भारत के अन्य विहार-स्थापत्य में नहीं दिखती है, क्यों अचानक विक्रमशिला में परिलक्षित होती है, इसके लिए आगे शोध कार्य की आवश्यकता है। यह भी सम्भव है कि भूमिगत कोठरियों में से कुछ, स्वर्ण जैसे कीमती वस्तुओं को रखने के लिए निश्चित किये गये हैं।

यद्यपि चार कोनों की आकृति वाले विहारों की शुरूआत पीछे कुषाण काल तक निर्धारित किया जा सकता है, विशेषकर तक्षशिला में बिप्पला विहार में एक स्तूप विहार परिसर के मध्य में उस समय के वर्तमान विहारों की ढांचा से नये रूप में हट कर था। नालन्दा में स्तूप और मन्दिर दोनों ही मध्य में कभी नहीं रहे बल्कि एक दूसरे के सम्मुख रहे। नालन्दा के ढांचों की संरचना और विन्यास विक्रमशिला से बिल्कुल ही भिन्न है। विहारों की चतुष्कोणीय आकृति ख़ावराज्म सोघिदियों की 5वीं शती ईसा पूर्व की याद दिलाता है। ईसा की पहली सदी में रोम के

विक्रमशिला विश्वविद्यालय (8वीं सदी ई०), अन्तीचक, भागलपुर (बिहार)
क्षतिग्रस्त होने से पहले का काल्पनिक चित्र

दुर्ग और मध्य एशिया के विभिन्न संस्कृतियों में सामुदायिक निवास 16वीं और 17वीं सदी ई० के मुगल शैली के सराय ठीक विक्रमशिला परिसर की तरह (स्तूप को छोड़कर) दिखते हैं। 3.80 मीटर चौड़ा बुर्ज ओर एक मात्र प्रवेश द्वार के साथ बाहर की मजबूत दीवाल इस विवेजना को और भी बलशाली बनाती है।

तारानाथ का कहना है कि विहार (मठ) में छः महाद्वार थे और प्रत्येक महाद्वार की द्वारपंडितों द्वारा निगरानी की जाती थी। वे कहते हैं कि प्रज्ञा प्रतिमा दक्षिण द्वार के रत्नाकर शान्ति पूर्वी द्वार के, रत्नवज्र प्रथम मध्य द्वार के और ज्ञानन श्री मित्र द्वितीय मध्य द्वार के प्रभारी थे। लेकिन उत्खनन से उत्तर दिशा में स्थित मुख्य महाद्वार और पीछे के हिस्से में छोटे दरवाजे के अलावा छः महाद्वार नहीं मिले हैं। चूंकि तारानाथ द्वारा, विहारों के नष्ट हो जाने के बाद, 17वीं सदी ई0 में वर्णन लिखा गया अतएव उनके वर्णन पर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता है। आकांक्षी उम्मीदवारों के द्वार पर विख्यात विद्वानों द्वारा प्रवेश-परीक्षा लिया जाता था या नहीं, हमलोग नहीं जानते हैं। लेकिन इस तरह की स्थिति नालन्दा में थी। जब अतिशा दीपंकर श्रीज्ञान नालन्दा गये थे, नरोपा द्वारा एक धार्मिक परीक्षा आयोजित की गई थी।

यद्यपि विभिन्न विषयों यथा दर्शन शास्त्र, औषध, साहित्य, तर्क, योग, ज्योतिष, तन्त्र, व्याकरण आदि की शिक्षा विक्रमशिला में दी जाती थी लेकिन तांत्रिक बुद्धिज्म की पढ़ाई को अधिक महत्व दिया जाता था। राहुल सांस्कृत्यायन ने विक्रमशिला में लिखी गई पुस्तकों की एक सूची प्रकाशित की है जिसका अब तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है।

18वीं शताब्दी ई० का एक तिब्बती स्रोत सुम्पा कहान्पो ये पॉल के अनुसार विक्रम शिला में अट्ठावन संकाय थे। आगे वे कहते हैं कि परिसर के घेरा से बाहर वहां 107 मन्दिर थे। घेरा से बाहर उत्खनन करने से बहुत से मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। अगर इसके आगे भी उत्खनन किया जाता है तो यह सम्भावना है कि इसके कुछ और अधिक मन्दिर अवश्य ही प्रकाश में आयेंगे।

विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या कितनी रही होगी ? राजा रामपाल के शासन-काल में जब अभ्यंकर गुप्त वहां के प्रधान थे, विक्रमशिला में 160 प्रोफेसर (आचार्य) और 1000 विद्यार्थी थे[11]। लेकिन मुस्लिम आक्रमण के बाद से विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी जैसा कि अतिशा के एक तिब्बती शिष्य नागत्सहो द्वारा प्रमाणित है जिन्होंने आठ श्लोकों की एक स्त्रोत की रचना की है। अन्तिम अवस्था में यहां लगभग 100 (सौ) सन्यासी थे। वृद्ध धर्मस्वामी (1153-1216) और कश्मीरी पंडित शाक्य श्रीभद्र (1145-1225) द्वारा नालन्दा भ्रमण के समय विक्रमशिला यथारूप विद्यमान था। लेकिन जब छोटे (युवा) धर्मस्वामी 1235 में नालन्दा आये, तब तक यह (विक्रमशिला) ढह चुका था। तिब्बती लेख पाग-साम-जोन-जंगा अथवा बौद्ध का इतिहास सुम्पा क्हान्पो ये पॉल द्वारा उसके उत्थान, झुकाव और पतन के वर्णन का हवाला देते हुए शाक्य श्रीभद्र (1145-1225) कहते हैं कि उदन्तपुरी और विक्रमशिला के विहार तुर्कों द्वारा नष्ट किये गये थे। जब उदन्तपुरी और नालन्दा का नाश किया जा रहा था, विक्रम शिला का प्रधान मठाधीश कमलरक्षित अपने उग्र राजनीति की यथार्थता के साथ दूरस्थ क्षितिज पर मंडराते आंधी की गड़गड़ाहट को भांप सका और उसने सुरक्षा व्यवस्था कड़ी कर दी। तारानाथ कहते हैं कि उदन्नतपुरी और विक्रमशिला को बचाने के लिए राजा ने भी उसे आंशिक रूप से किले में परिवर्तित कर दिया और वहाँ कुछ सैनिकों को रखा। प्रारम्भिक आक्रमणों को प्रभावी ढंग से वापस ख़देड़ दिया। प्रज्ञारक्षित नाम के एक आचार्य ने, जो तन्त्र के विशेषज्ञ थे, तुर्की को दूर तक खदेड़ दिया, यहां तक कि उसके प्रधान और कुछ सैनिकों को भी मारने में सफलता पाई।

लेकिन तुर्कों के अन्तिम घातक आक्रमण को कुछ भी नहीं रोक सका। विहार गिरा दिये गये, इसमें रहने वाले मार डाले गये और इसकी नींव को गंगा में फेंक दिया गया।

विश्वविद्यालय को नष्ट करने के बाद इससे सटा दूसरा किला बनाया गया। विश्वविद्यालय के पटकाएं पत्थरों के घेरे के अन्तर्गत किले की दीवाल के साथ एक टीला है जो जंगलिस्तान के नाम से जाना जाता है। जब डॉ० बी.एस. वर्मा ने उस स्थान की ख़ुदाई की, निचले सतह पर उन्हें किले का एक हिस्सा मिला जिससे मुस्लिम (शैली के) चमकदार पात्र मिलने की बात कही गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षांत समारोह, जिसमें सफल विद्यार्थियों को सत्तासीन महाराजा द्वारा उपाधि (डिग्री) प्रदान की जाती थी, यहां पर प्रारम्भ हुआ था आचार्य जेतरी उनमें से एक थे जिन्होंने महाराज महीपाल से उपाधि प्राप्त की थी। प्रख्यात आचार्य दीपंकर विक्रमशिला में आचार्य जेतरी के शिष्य थे। विश्वविद्यालय के अन्य चर्चित प्राध्यापक रत्नकीर्ति, ज्ञानश्री मित्र, अतिशा और रत्नाकर थे। पड़ोसी देश विक्रमशिला से विद्वानों के लिए प्रतिस्पर्धा करते थे। इस विचार से राजा के बुलावे पर बौद्धधर्म प्रचार के लिए रत्नाकर श्रीलंका गये, भूटान के सत्तासीन राजा द्वारा अतिशा को निमंत्रित किया गया और यह कार्य केवल एक से

अधिक मिशन (कार्य-योजना) के असफल होने पर सम्भव था। विक्रमशिला के विद्वानों को उच्च सम्मान दिया जाता था जबकि एक तिब्बती मिशन ने राजा को स्वयं खड़ा होकर विक्रमशिला के एक प्रख्यात विद्वान् वीरखज्र को स्वागत करते देखा।

विक्रमशिला का तिब्बत के साथ नजदीकी सम्बन्ध था। विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए तिब्बत से बहुत से विद्यार्थी आते थे। विक्रमशिला के परिचित विद्रानों की तिब्बत में बहुत मांग थी। बहुत ही प्रमुख विद्वान् जिन्होंने तिब्बतियों को प्रभावित किया, वे दीपंकर श्रीज्ञान थे। इस हृदयग्राही व्यक्तित्व की छाप इतनी अधिक थी कि वे उन्हें अतिशा मंजूश्री के एक अवतार की तरह पूजते थे। तिब्बत के राजा के द्वारा समर्थन प्राप्त उनके तेरह वर्षों के कार्य के कारण तिब्बत में बौद्ध धर्म, राज-धर्म के रूप में स्थापित हो सका और पद्म-सम्भव द्वारा स्थापित लामाओं के धर्म-शासन को पक्का आधार मिला।

तिब्बत में तीन साल बिताने के बाद दीपंकर श्रीज्ञान (अतिशा) में अपने किये वादे के अनुसार विक्रमशिला लौटने का विचार किया लेकिन उनकी कार्य-योजना पूरी नहीं हुई थी, इसलिए उन्होंने अपना विचार बदल दिया। उनकी मध्य तिब्बत की यात्रा बहुत ही सफल रही और हर जगह बहुत ही अधिक उत्साह के साथ उनका स्वागत हुआ। मध्य तिब्बत में धर्म-प्रचार के बाद उन्हें ल्हासा बुलाया गया। ल्हासा, यार-पॉल, लान-पा और नेथन में व्याख्यान देने के बाद उन्हें प्रचूर धन मिला। संचित धन में अधिकांश सोना था और उन्होंने उन सभी को तीन अवसरों पर विक्रमशिला को भेज दिया। अनेक कठिनाईयों के बावजूद ईश्वर विक्रमशिला पहुँचे। विक्रम शिला में वहाँ कया वे सोना और अन्य वेशकीमती चीज रख पाये? स्थल पर उत्खनित बारह की संख्या में तलघर अथवा विहार (मठ) के कोने पर बना अटारी को अवश्य ही भण्डार-गृह के रूप में प्रयोग किया जाता होगा। यथा-क्रम से तलघर को ध्यान-योग के बैठक के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता था।

हालांकि विश्वविद्यालय की खुदाई बीस साल तक चली, धन की अल्पता के कारण इसका समुचित संरक्षण नहीं किया गया। सन् 1998 में लेखक ने जब इस स्थल को देखा, यह यथार्थत: वध-स्थल था। मैं विश्वास नहीं कर सका कि यह उसी विश्वविद्यालय के खण्डहर हैं जिसके बारे में मैंने बहुत बार पढ़ा है। उत्खनन के बाद, चूँकि अधिकांश मेड़ हटाए नहीं गए थे, स्थल बेकार जैसा लगता था। चूंकि पानी का रिसाव रोका नहीं गया था, दीवालों पर पेड़, पौधे और उपजाऊ वनस्पतियों की बिना दिक्कत के बढ़ोत्तरी हो गई थी। तब यह विचार किया गया था कि सभी उपलब्ध संसाधनों से, जो व्यवहारित किया था सके, का प्रयोग कर स्थल का संरक्षण किया जाए चूँकि धन सीमित है, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण को बंधी बंधाई बजट के आधार पर काम करना था।

वे मेड़े, जिसे पूरा स्थल कई खण्डों में विभक्त था, उसको हटाने के काम को प्राथमिकता दी गई ताकि स्थल की एकरूपता दिख सके और विस्तार से विधिपूर्वक संरक्षण की योजना भी बनाइ जा सके।

इसके बाद विभिन्न ढांचों तक दर्शकों को पहुँचाने वास्ते रास्ता बनाने की योजना बनाई गई। इसके साथ ही दीवालों पर से जड़ों को हटाने के बाद ढांचों पर पानी के रिसाव को रोकने का काम किया गया। मुख्य स्तूप, जो गहरे रूप से प्रभावित था, का मरम्मत किया जा रहा है। विहारों और इसके कोठरियों की भी, जिसकी सभी ईंटें लूट लिये गये थे, विशेष आकार की ईंटें तैयार कर मरम्मत किया जा रहा है। गत तीन वर्षों से अनेक विरोधाभास का सामना करते हुए स्थल का बड़े पैमाने पर संरक्षण कार्य किया जा रहा है। विश्वविद्यालय के संरक्षण वास्ते इस महत् प्रयत्न में मुझे श्री वाय.पी ठाकुर और श्री एल.एन. झा, सर्वे के इन दो संरक्षण अधिकारियों का योग्यतापूर्ण सहयोग मिला।

स्थल से उत्खनित पुरावशेष को प्रदर्शित करने वास्ते भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने स्थल पर एक संग्रहालय का निर्माण किया है। इसको और देश के विभिन्न भागों में अन्य संग्रहालयों (पंक्तिबद्ध) को, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के वर्तमान महानिदेशक श्रीमति कोमल आनन्द द्वारा स्पष्टत: परिलक्षित उत्कट अभिलाषा के कारण, स्थापित किया जा सका। डॉ० आर.सी. अग्रवाल, निदेशक (संग्रहालय) और श्री एस.सी. शरण ने दिखा दिया कि प्रयोजना के एक रूप को वास्तविकता के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है।

मुहम्मद के० के०
अधीक्षण पुरातत्वविद्
दिल्ली सर्किल
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण
लाल क़िला, दिल्ली

ताम्र पत्र और अभिलेख

डा० आर.के. तिवारी

परंपराएँ, साहित्य और पुरातत्व एवं अभिलेख इतिहास के स्रोत माने जाते हैं। परंपरा में लोगों के रीति-रिवाज, विश्वास, प्रथाएँ तथा कथाएँ आदि होते हैं, जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक लगातार चलती रहती है और इस क्रम से चलते हुए उसमें बहुत कुछ अंश भूल जाने से लुप्त हो जाता है और बहुत कुछ नया मिल जाता है। यही परंपरा कालांतर में लिपिबद्ध होकर 'साहित्य' का रूप धारण कर लेती है, जिसमें राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, दर्शन-चिंतन आदि विभिन्न तरह की सामग्री सम्मिलित हो जाती है। परन्तु 'साहित्य' प्राय: भावनात्मक ही होता है और इसमें लेखक की कल्पना, लोगों की अभिरूचि और अलौकिक कथाएँ आदि भी समाविष्ट हो जाती है, यथा—महाभारत, रामायण, पुराण आदि ग्रंथ। इनमें अतिशयोक्ति, विरोध तथा इसी प्रकार के अन्य तत्व ऐतिहासिक तथ्यों को जानने में बाधक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में मूल-तथ्यों में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। इसके अलावा देश में उपद्रव, आक्रमण, युद्ध आदि से बहुत सा साहित्य नष्ट हो जाता है। अत: इतिहास-निर्माण में साहित्य को पूर्णत: प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

दिल्ली के फ़िरोजशाह कोटला (दिल्ली गेट) का स्तंभ

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का महरौली लौह-स्तंभ अभिलेख

परंपरा और साहित्य की इन कमियों को पूर्ण करने का महत्वपूर्ण साधन है—पुरातत्त्व एवं अभिलेख। प्राचीन काल के प्रसिद्ध स्थानों, नगरों, टीलों आदि को खोदकर पुरातत्व उनमें से प्राचीन सामग्री यथा भग्नावशेष, मूर्तियाँ, सिक्के, आभूषण, आयुध-उपकरण और अभिलेख आदि उद्धारित करता है।

प्राचीन काल में राजा तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग दान करते समय एवं अपनी विजयों के उपलक्ष्य में अथवा अन्य किसी विषय को चिरकाल तक स्मरणीय बनाने के लिए उस विषय को लेख-बद्ध कर पतीरों, शिलाओं, स्तम्भों तथा ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करवाते थे, जो आज भी हमें उसी रूप में ज्यों के त्यों मिलते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता

दिल्ली के फ़िरोजशाह-कोटला (दिल्ली गेट) पर स्थित अशोक के स्तंभ का चित्र

यह है कि इनमें कोई अतिरिक्त सामग्री जोड़ी नहीं जा सकती। जो कुछ भी मौलिक रूप में लिखा गया था, ठीक उसी रूप में वह आज भी मिलता है।

भारतीय इतिहास का पुनर्लेखन करने में अभिलेखों में बहुमूल्य योगदान दिया है। ये अभिलेख भारतवर्ष में हज़ारों की संख्या में मिले हैं ओर आज भी मिलते जा रहे हैं। विषय की दृष्टि से ये अभिलेख कई प्रकार के हैं। इनमें अधिकतर राजा-महाराजाओं की प्रशस्तियाँ हैं, जिनमें उनकी प्रशस्ति, भूमिदान आदि का उल्लेखल है और कुछ ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ हैं। इनसे प्रामाणिक इतिहास जानने में बहुत मदद मिली है और कई अभिलेख अज्ञात समय को जोड़ने वाली कड़ियाँ सिद्ध हुए हैं।

लगभग चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अभिलेख उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के पिप्रावा गाँव के निकट मिला है जिसमें ब्राह्मी लिपि एवं प्राकृत भाषा में भगवान बुद्ध के अवशेषों के प्रतिष्ठापन का स्पष्ट उल्लेख है—

''...इयं सलिल निधने बुधस भगवते सकियानं।''

(इदं शरीर—निधानं बुद्धस्य भगवत: शाकयानां अर्थात् भगवान बुद्ध के शरीर (अवशेषों) का यह पात्र (अस्थिकलश)... (प्रतिष्ठापित) किया गया। यह उल्लेखनीय है कि महापरिब्बब्बन सुत्त नामक एक बौद्ध ग्रंथ के अनुसार महात्मा बुद्ध के दाह-संस्कार के बाद उनके अवशेषों को आठ भागों में बाँटकर उन्हें मंजूषाओं में रखकर अलग-अलग स्थानों पर स्तूपों के भीतर सुरक्षित रखा गया था।

भारत में उपलब्ध शृंखला-बद्ध प्राचीनतम अभिलेख सम्राट अशोक (273 ई०पू०-232 ई०पू०) के हैं विशेषकर ब्राह्मी (एवं खरोष्ठी) लिपि एवं प्राकृत भाषाओं में उत्कीर्ण अशोक के अभिलेख लगभग समूचे भारतवर्ष में मिले हैं। इन अभिलेखों में हमें सम्राट अशोक और तत्कालीन समाज के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने के लिए अशोक ने 'धम्म' (धर्म) का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। उसका यह 'धम्म' समस्त धर्मों के गुणों का मिला-जुला रूप था, जिसमें मानव-कल्याण को प्राथमिकता दी गई थी।

अशोक के दूसरे और पाँचवें शिलालेखों में वर्णित राज्यों के नामों के आधार पर प्रतीत होता है कि अशोक की राज्य-सीमा सुदूर दक्षिण से संपूर्ण भारतवर्ष तथा अफगानिस्तान के भू-भाग तक फैली हुई थी। इतना विशाल साम्राज्य उसे उत्तराधिकार में अपने दादा चन्द्रगुप्त मौर्य एवं पिता बिन्दुसार से मिला था। अपने जीवन काल में अशोक को केवल कलिंग (उड़ीसा) की विजय श्री मिली थी।

नेपाल के तराई में स्थित रूम्मिनदेई नामक स्थान से प्राप्त एक स्तम्भ अभिलेख से ज्ञात होता है कि अपने राज्यभिषेक के बीस वर्ष बाद सम्राट अशोक ने स्वयं महात्मा बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी की यात्रा की थी और इस अवसर पर उन्होंने वहाँ पर एक स्तम्भ और शिलामित्तिका की स्थापना करवाई और साथ ही उस गाँव को कर-मुक्त भी कर दिया :-

''देवानपियेन पियदसिन लाजिन...
अतन अगाच महीयते हिद बुधे जाते सक्यमुनिति... ।''

दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व का एक स्तम्भ-लेख बेसनगर (जिला विदिशा, म.प्र.) से मिला है, जिसमें यवन-राजदूत हेलियोडोरस द्वारा एक विष्णु-मन्दिर के सामने गरूड़ स्तंभ लगवाने एवं स्वयं के लिए भागवत (भगवान विष्णु का भक्त) उपाधि का वर्णन हैं:—

''देवदेवस वासुदेवस गरूड़ध्वजे अयं कारिते
इह हेलिओदोरेण भागवतेन... योनदूतेन आगतेन... ।''

इस अभिलेख से मौर्योत्तर काल में भारत और यूनान के बीच आपसी संबंधों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

संस्कृत भाषा में लिखा गया भारत का पहला अभिलेख अयोध्या (उत्तर प्रदेश) से मिला है। ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण ईसा पूर्व प्रथम शती

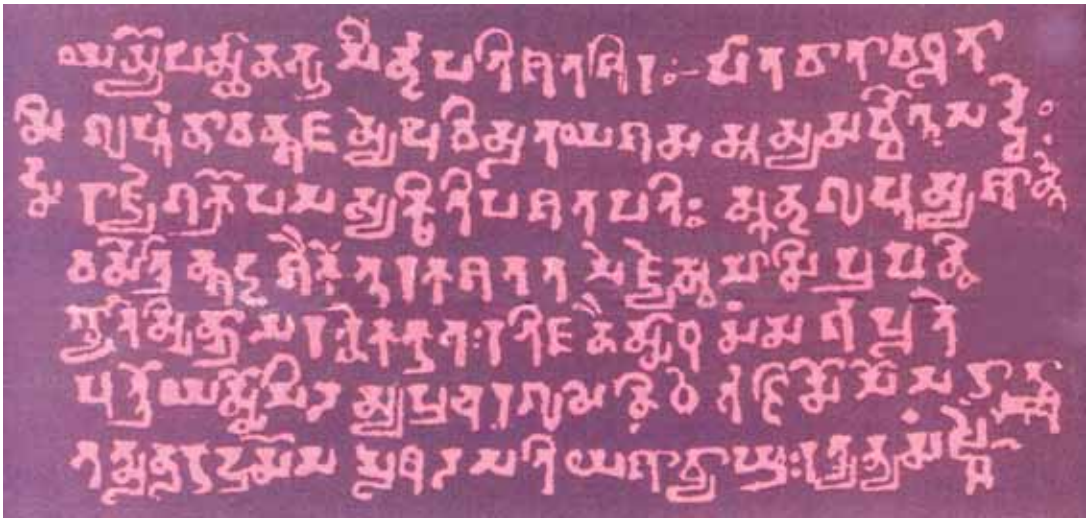

स्कंदगुप्त (460 ई०) कालीन गोरखपुर (उ०प्र०) अभिलेख

के इस अभिलेख में कोसल-नरेश शुंग-वंशीय पुष्यमित्र द्वारा दो अश्वमेघ यज्ञ करने तथा अपने पिता की स्मृति में एक मन्दिर बनवाने का उल्लेख है:

''कोसलाधिपतेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकी पुत्रेण धन (देवेन)...पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं।''

भुवनेश्वर के समीप उदयगिरी पहाड़ी की गुफा में उत्कीर्ण प्रथम शताब्दी के हाथी-गुफा अभिलेख से हमें कलिंग (उड़ीसा) के प्रतापी राजा खारवेल के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। धार्मिक प्रवृत्ति वाले, चारों वेदों में पारंगत ललित कलाओं में रूचि रखने वाले, प्रजारंजक खारवेल ने सम्राट अशोक के पद-चिह्नों पर चलते हुए, मौर्य वंश के पतन के बाद भारत को पुनः एक सूत्र में बाँधकर एवं उसे पहली बार 'भारतवर्ष' का नाम देकर उसे एक राजनैतिक इकाई में बांधने का स्तुत्य प्रयास किया था। इतिहासकार डा० आर.एस. सैनी के अनुसार भारत की स्वतंत्रता के बाद संविधान-निर्माताओं ने सर्वसम्मत होकर संविधान की उदघोषणा में यह स्वीकार किया है कि सम्राट खारवेल का उक्त अभिलेख इस विषय में प्राचीनतम प्रमाण है कि पहले इस देश का नाम भारतवर्ष था।

गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त (335 ई०-375ई०) के इलाहबाद स्तंभ-लेख में समुद्रगुप्त द्वारा समूचे भारतवर्ष में किए गए विजय-अभियानों एवं उसके व्यक्तित्व का विशद विवरण मिलता है, जो अन्यत्र नहीं मिलता। इसी प्रकार चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (335-375 ई०) के महरौली लौह स्तंभ अभिलेख में चन्द्रगुप्त की बंगाल, सिंधु नदी के पार व दक्षिण प्रदेश के समुद्र तक विजयों का उल्लेख है। कुमारगुप्त कालीन 472 ई० के दशपुर (मन्दसौर म.प्र.) अभिलेख में रेशमी कपड़ों का व्यापार करने वाले पट्टवाय श्रेणी द्वारा सूर्यमन्दिर के निर्माण के साथ-साथ अपने कपड़ों का विज्ञापन भी किया गया है, जो संसार का संभवतः पहला अभिलिखित विज्ञापन है:-

तारूण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहार—
ताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नरीजनः श्रियमुपैति न तावदग्रयां
यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥

अर्थात भरपूर यौवन एवं यौवन की रौनक से भरपूर होने पर भी सोने के हारों से सजी होने पर भी, पान के सेवन तथा फूलों के हारों से सजी होने पर भी नारियाँ तब तक सुन्दर नहीं लगतीं, जब तक (हमारे द्वारा निर्मित) रेशमी कपड़ों को धारण नहीं करती। ये रेशमी कपड़े स्पर्श करने में कोमल तो हैं ही, साथ ही देखने में अच्छे लगने वाली इनकी रंग-बिरंगी छटा ने मानों पूरे संसार को अलंकृत-सा कर दिया है।

यशोधर्म के छठी शताब्दी मन्दसौर (म.प्र.) से ज्ञात होता है कि मध्य एशिया से आकर भारत पर आक्रमण कर कुछ समय के लिए यहाँ के कुछ भागों पर शासन करने वाले हूण जाति का राजा मिहिरकुल भगवान शिव का उपासक था और यह यशोधर्मन के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ था। हर्षवर्धन के 627 ई० के बाँसखेड़ा (जिला शाहजहाँपुर उ.प्र.) के अभिलेख में उसके पूर्ववर्ती राजा-रानियों के नामोल्लेख के

सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का महरौली लौह-स्तंभ अभिलेख

अलावा इस घटना का भी उल्लेख है कि हर्षवर्धन के बड़े भाई राज्यवर्धन को शशांक-नरेश देवगुप्त के छल से अपने शैन्य-शिविर में बुलाकर मार डाला था। कर्नाटक के बीजापुर जिले के एहोल नामक गाँव के प्राप्त चालुक्य-वंशीय पुलकेशी के 634 ई० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने हर्षवर्धन जैसे महाशक्तिशाली नरेश को नर्मदा के तट पर हराकर उसकी शक्ति-विस्तार को रोक दिया था:—

''...बीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्ष :।''

अर्थात ऐसे हर्ष (हर्षवर्धन) को, जिसकी गजसेना युद्ध में हार जाने के कारण वीभत्स हो गई थी—भय से जिस (पुलकेशी) ने हर्ष रहित कर दिया...। यह उल्लेखनीय है कि महाराज हर्षवर्धन की उक्त पराजय का उल्लेख इतिहास में अन्य कहीं नहीं मिलता।

पालम हवाई-अड्डे के पास स्थित एक बावड़ी के पत्थर पर उड्ढर नामक व्यक्ति का सन् 1276 का एक अभिलेख मिला था, जिसे कालान्तर में लाल किले के संग्रहालय में रखा गया। नागरी लिपि में लिखे गए इस अभिलेख के अनुसार दिल्ली का पुराना नाम *ढिल्ली* था, जिस पर पहले तोमरवंशी राजाओं ने और बाद में पृथ्वी राज चौहान आदि ने राज्य किया। अभिलेख में यह भी प्रतीत होता है कि दिल्ली *'हरिनायक'* हरियाणा से लगभग पांच कोस पर थी:—

''...हरीयाण इ देशह-पंचकोश ढिली अहु...।''

अर्थात्...हरियाणा यह देश है... यहाँ से पाँच कोस दिल्ली है।

इस प्रकार प्राचीन अभिलेखों ने भारतीय इतिहास का विभिन्न अज्ञात कड़ियों को जोड़ने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

डा० आर. के. तिवारी
राष्ट्रीय संग्रहालय
जनपथ, नई दिल्ली

उत्तर पूर्व भारत की संस्कृति में मणिपुर की अनाल जनजाति का योगदान

डा० शिबानी राय

ऊंची ऊंची पहाड़ियों से घिरी मणिपुर राज्य की घाटी उत्तर पूर्वी क्षेत्र का वह भू-भाग है जिसका पौराणिक इतिहास एक ओर अर्जुन एवं चित्रांगदा की प्रणय लीला से ओत प्रोत है तो दूसरी ओर इस राज्य की पहाड़ियों के घने जंगलों के आदिवासी स्वयं को उन आदिम जातियों के वंशज बताते हैं जो कभी दक्षिण पश्चिम चीन में रहती थी एवं वहां से जीवनोपार्जन की खोज में इस क्षेत्र में आकर बस गई। सांस्कृतिक मापदण्डों के आधार पर मणिपुर को तीन सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। राज्य का मध्य भाग जो समतल एवं घाटियों से बना है मैतेयी संस्कृति का गहवारा है। मैतेयी संस्कृति के मुख्य प्रतिनिधि हैं :

ब्राह्मण, क्षत्रिय, आन्द्रो, बाइथिबी, थांगा, लोइ जो मितै (मितई) जाति के अभिन्न अंग हैं! पंगाल (पांगन) अथवा मितै मुसलमान भी इस समूह में सम्मिलित हैं। मितै (मितई) जो कभी आदिधर्म 'सनामही' का पालन करते थे अब वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। राज्य की पूर्वी, उत्तरी तथा पश्चिमी पहाड़ियों में नागा संस्कृति का वर्चस्व है। दक्षिण की पहाड़ियों में कूकी संस्कृति का बोलबाला है! इन तीनों में न केवल सांस्कृतिक विषमताएं हैं अपितु भाषा, वेष-भूषा, शारीरिक विशिष्टताएं, रीति रिवाजों में अनेक विभिन्नताएं भी हैं।

स्वतन्त्र भारत की प्रथम जनगणना में कूकी तथा नागा दो आदिवासी जनजातियों का उल्लेख मिलता है। आज इस राज्य में 29 आदिवासी मानव समूहों को भारत सरकार ने संवैधानिक मान्यता दी है। इनमें से एक है अनाल जो दक्षिण पूर्व में मोरे नामक स्थान से लगे म्याँमार देश की सीमा से लेकर तेंगनोपाल जिले के सुगनू तथा चपकीकरोंग तक के क्षेत्र में बसे गांवों में रहते हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या मात्र 13853 व्यक्तियों तक ही सीमित है। स्वयं को पकान जाति की एक शाखा मानते हैं और अन्य शाखाएं हैं लमकांग, मोयोन तथा मोनसांग जो एक दूसरे से कुछ ही दूर पर रहती हैं। अनाल स्वयं को मंगोल के वंशज मानते हैं। भाषाविद् इनको तिब्बत-बर्मन भाषा परिवार की कड़ी मानते हैं।

अनाल स्वयं की उत्पत्ति का स्रोत एक 'खोल' को मानते हैं। अनाल भाषा में 'खोल' के दो अर्थ होते हैं 'धरती में एक बड़ा गड्ढा' तथा 'परदेस'। अनाल लोक कथाओं में यह दावा किया जाता है धरती पर आने से पूर्व अनाल एक बड़ी गुफा में रहते थे जिसका मुख एक बड़ी शिला से बंद था और जिसके द्वार पर एक मानवभक्षी बाघ सदैव शिकार की टोह में रहता था। यदि कोई व्यक्ति बाहर जाने का प्रयत्न करता तो वह बाघ का आहार बन जाता था। एक दिन दो साहसी तथा चौकस अनाल युवकों, हांशू एवं हंता ने पारी (एक प्रकार की चिड़िया) झुंड के मुखिया के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि वह बाघ को मारने में इन दोनों की सहायता करे तो वे उसके झुंड को अपने खेतों में अन्न चुगने से नहीं रोकेंगे। उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। पारी के झुंड के झुंड बाघ के सर पर मंडराने लगे और बाघ की चौकसी में व्यवधान का लाभ उठा उसकी नजर बचा दोनों युवक गुफा से निकल आए और अपने शौर्य तथा पराक्रम से बाघ को मार डाला! फलस्वरूप, गुफा के शेष अनाल धरती पर आकर रहने लगे। आज भी अनाल के खेतों में पारी के झुंड के झुंड दाने चुगते हैं किन्तु अनाल उनको मारते नहीं, यद्यपि अन्य पक्षियों को मार कर खा लेते हैं। इस लेख में अनाल संस्कृति के उन पहलुओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहेंगे जो अनाल आदिवासियों को एक विशिष्ट श्रेणी का आदिमजाति समूह सिद्ध करती हैं जो न तो नागा और न ही कूकी सांस्कृतिक धुरियों से प्रभावित हैं।

मणिपुर राज्य के इतिवृत्त में सोलहवीं शताब्दी (1545-1562 ई.) में राजा चालम्बा ने अनाल गांव लाम्फऊ पर आक्रमण किया था। किन्तु अनाल पराक्रम के सामने वह इन पर अधिकार न कर सका। इसी प्रकार 1570 में राजा मांगयान्बा ने भी प्रयत्न किया किन्तु उसे भी सफलता नहीं मिली। मितै राजा खगेनबा के नेतृत्व में जो युद्ध हुआ उसमे अनालखुल्लेन का मुखिया बोंगजाम्पा मारा गया और अन्ततः 1666-1697 में मितै राजा पाईखोम्बा ने अनालों के साथ एक मैत्री संधि कर ली और इस प्रकार अनाल क्षेत्र मितै राजा के शासन के अधीन हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जापानी सेना की टुकड़ियों ने 1944 में आजाद हिन्द फौज के साथ मिलकर अनेक अनाल गांवों जैसे-थोर्चम, फीरनमापेट, फीरनखुल्लन यांदेल और यपहाओं को अपने अधिकार में ले लिया था। आजाद हिन्द फौज के सेनाध्यक्ष नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से प्रभावित हो अनेक अनाल युवक सेना में भर्ती हो गये और इनमें से कुछ ने तो अन्य देशों जैसे फ्रांस, जर्मनी की धरती पर सैनिक कार्रवाई में भाग लिया। नागा विद्रोह की लपटें 1961 में अनाल क्षेत्र तक पहुंचीं। तेंगनोपाल, तांगखुल और माओ क्षेत्र में भूमिगत नागा विद्रोहियों और भारतीय सेना के मध्य छिड़े गुरिल्ला युद्ध में अनाल भी चपेट में आ गये। जून, 1965 में अनाल खुल्लन गांव में भूमिगत नेता कुमार तथा दिसम्बर, 1969 में उनके उत्तराधिकारी क. रूंडल को वामकू गांवों में गिरफ्तार कर लिया गया। इन नेताओं की गिरफ्तारी के साथ 1971 में इस क्षेत्र से नागा विद्रोह की समाप्ति हो गई। यही अनाल आज शिक्षा और प्रगति की ओर अग्रसर हैं।

इनकी लोकथाओं में प्रमुख पात्र हैं कछुआ तथा मेंढक जिनका ज़िक्र आदर तथा सम्मान से होता है। इन लोककथाओं के साथ-साथ द्वितीय विश्वयुद्ध से संबंधित अनेक घटनाएं भी अनाल लोकसाहित्य का एक अंग बन चुकी हैं। इनमें एक ऐसी घटना है जिसका वर्णन लगभग हर एक गांव में सुनने को मिला, जिन में रह कर हमने शोध अध्ययन किया था। घटना हुई खुबुनखुल्लन गांव में जहां से कुछ दूर पर दो वायुयानों की टक्कर के परिणामस्वरूप आहत चालक को किस प्रकार पहाड़ की चोटी पर घने जंगलों से निकाल कर निकटतम सैनिक चौकी मोम्बी तक पहुंचाया। इस दु:स्साहस भरे शौर्य के लिए अंग्रेज सेनाधिकारी ने उनको दोनाली बंदूक उपहारस्वरूप भेंट की।

अनाल मकान लकड़ी से बनाते हैं जिस पर घासफूस की छत होती है। इनके घरों की विशेषता है खिड़कियों की अनुपस्थिति। केवल दो द्वार होते हैं एक आगे और एक पीछे। आगे का दरवाजा अपेक्षाकृत बड़ा होता है जिसे 'थूमी' कहते हैं और पीछे के दरवाजे को 'थलका' कहते हैं। भवन निर्माणकला सरल है क्योंकि घर साधारणत: एक बड़ा कमरा होता है जिसमें लकड़ी के खम्बों तथा बांस की चटाई से विभाजित कर अंत:कक्ष बना दिए जाते हैं जिन्हें 'जूहमून' कहते हैं और हम उसे भंडार कक्ष का नाम दे सकते हैं क्योंकि इन में खाद्यान्न, लोहा, लकड़ी के औजार, बेंत, बांस की बनी अलग अलग प्रकार की टोकरियां इत्यादि रखी जाती हैं। घर का शेष भाग शयन हेतु इस्तेमाल किया जाता है जहां परिवार के सभी सदस्य सोते हैं। पीछे के दरवाजे के पास रसोई होती है जहां एक चूल्हा होता है जो सदैव प्रज्ज्वलित रहता है और उसके ऊपर छत से बंधे बांस एवं बेंत से बुने छज्जे (अलगनी/मचान) होते हैं जिन पर चावल, लौकी, अन्य साग सब्जी, मिर्च के साथ साथ मांस के टुकड़े भी लटका कर रख देते हैं जो चूल्हे से लगातार निकलते धूएं से सिकते रहते हैं। 'जू' उस घरेलू विधि से बनाई गई मदिरा को कहते हैं जो चावल से बनती है। बांस के तनों से बने नलिका में यह मदिरा संग्रहित कर मचान पर रख देते हैं। इससे उसमें अल्कोहल की प्रतिशतता अधिक हो जाती है। घर का फर्श भी लकड़ी का होता है जो

अनाल सामूहिक नृत्य

अनाल क्षेत्र की विशिष्टता

धरती की सहत से लगभग 6 फीट ऊंचा होता है। पूरा घर लकड़ी के खम्भों पर आश्रित होता है। घर के साथ ही एक छोटा भन्डार गृह बनाते हैं जिसे 'अतुम' कहते हैं।

अनाल जाति में प्रचलित कानून का कठोरता से पालन किया जाता है। इन कानूनों में समय-समय पर संशोधन भी होता है। 20-21 अक्टूबर, 1976 में लामफउचीरू गांव में अनाल मुखियों का जमघट हुआ था जहां शताब्दियों से चले आ रहे कानूनों की समीक्षा की गई थी। पुनर्समीक्षा हुई 4 जनवरी, 1977 में जब लाम्बुंग गांव में मुखियों की बैठक हुई। अन्तिम संशोधन हुआ 9 फरवरी, 1977 में जब बेरूखुदम गांव में मुखियों, वरिष्ठ सलाहकारों, सदस्यों, जननायकों, प्रतिष्ठित महिला सदस्यों का महासम्मेलन हुआ जिसमें संशोधन के प्रस्ताव को सर्वसम्पति से पारित कर कानूनों को लागू कर दिया गया। कुछ नियम इस प्रकार हैं :

- प्रत्येक गांव अपनी सीमा के एक मील के घेरे के भीतर स्थित वन 'ह्यामीहलम' (आरक्षित वन) को अपने नागरिकों की आवश्यकता हेतु संरक्षित रखेंगे।
- इस आरक्षित वन की सीमा के बाहर के वनों में (जिन पर अधिकतर स्वामित्व होता है हिलिहमिह का) 'झूमिया' खेती की जा सकेगी। हिलिहमिह अर्थात गोत्र के पुरुष सदस्यों के पुत्रों एवं उनके वंशजों को इस भूमि पर खेती करने का अधिकार होता है। यदि गोत्र के किसी परिवार में कोई भी पुत्र न हो तो इस भूमि पर इसी गोत्र के निकटतम संबंधी परिवार के पुरुष सदस्यों को यही अधिकार दिया जाता है। यहां यह स्पष्ट पर देना आवश्यक है कि 'झूमिया' खेती हेतु निर्धारित भूमि पर केवल एक या दो वर्ष ही खेती की जा सकती है। जिसके बाद यह भूमि दो-तीन साल तक ऊसर छोड़ दी जाती है। भूमि की इन सीमाओं का आदर केवल खेती के लिए ही नहीं वरन अन्य क्षेत्रों में भी होता है जैसे यदि इन सीमाओं के अंदर किसी ने आखेट किया और यदि जानवर किसी और गांव की सीमावर्ती भूमि पर मरा तो इस जानवर के मांस में उनको भी भाग दिया जाता है जिनकी सीमा के अंदर वह मरा हो।
- आरक्षित वन उत्पादों जैसे पेड़, बांस, फल, शाक-सब्जी, फूल, कन्द, मूल इत्यादि के उपयोग करने की सीमाबद्धिता नहीं है परन्तु छत डालने हेतु घास किसी और के आरक्षित वन से तभी काटी जा सकती है जब संबंधित व्यक्तियों से अनुमति ले ली जाये।
- प्रत्येक अनाल गांव की निर्धारित सीमा होती है। यदि कोई इसका उल्लंघन करे तो उस पर दण्ड लगया जा सकता है। अनाधिकृत रूप से खेती या वनोत्पाद के प्रयोग की दशा में उस गांव को कर देना होता है जिसकी सीमा पर यह अतिक्रमण हुआ हो।
- मुखिया तथा उसके सहयोगियों को विवाद के निर्णय हेतु किसी को भी ग्राम सभा में बुलाने का अधिकार है। उन्हें भूमि संबंधी विवादों, चोरी, झगड़े, विवाह-विच्छेद, हत्या इत्यादि फौजदारी मामलों में निर्णय देने का अधिकार है। इन सभी दायित्वों हेतु मुखिया तथा उसके सहयोगियों को जूपर-जूहरिन (चावल से बनी ताजी मदिरा एवं पका हुआ मांस) भेंट स्वरूप मिलता है!

प्रत्येक अनाल गांव से एक मील दायरे के अंदर स्थित जंगल का एक बड़ा भाग 'सुरक्षित वन' माना जाता है जिसको स्थानीय भाषा में 'हिमीलम' कहते हैं। इस सुरक्षित वन से प्रत्येक सदस्य परिवार को ईंधन हेतु सूखी लकड़ी इत्यादि एकत्रित करने का अधिकार होता है। इस भाग से जो उत्पाद होता है उसे गांव के विकास हेतु उपयोग किया जाता है। अनाल इतिहासकार मानते हैं कि प्रारम्भिक काल में इस जाति में उसी व्यक्ति को नायक मानते थे जो बलशाली और पराक्रमी होता था क्योंकि आदिकाल में अन्तर्जातीय युद्ध होना एक सामान्य घटना थी। अत: पराक्रमशील, वीर और अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण नायकों को समाज सम्मान देता था और उनके नेतृत्व को स्वीकार करता था। लोक कथाओं में प्रसिद्ध कुछ नायक हैं थुमकेल तथा बोंगजांगपा। युद्ध, अन्तर्द्वंद में जान-माल की हानि का भय सदैव रहता था, अत:सुरक्षा की दृष्टि से ग्राम परिषद का गठन हुआ। परिषद में तीन पदों का प्रावधान

था जिन पर सुयोग्य व्यक्ति का चयन किया जाता था। परिषद गांव के अनुभवी वरिष्ठ नागरिकों की सहायता से गांव के प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने में सक्षम थी। इन पदों में वरिष्ठतम पद था 'खोलपू' तत्पश्चात 'दोपू' एवं 'थोलपू'। 'खोलपू' रस्मों, रीति-रिवाजों, कानूनों का अच्छा जानकार होता है, दोपू चिकित्सक की भूमिका निभाता है। स्थानीय चिकित्सा प्रणाली की शिक्षा अनुवांशिक रूप से एक परिवार तक ही सीमित होती है अत: यह पद भी एक ही परिवार के सदस्यों को ही मिलता है। दोपू जड़ी, बूटियों को पहचानने में पारंगत तो होता ही है साथ ही साथ कर्मकाण्डी भी होता है। नये गांव के बसाने में या फिर खेती हेतु जंगल काटने अथवा बीज बोने से पूर्व देवी देवता की पूजा अर्चना के अनुष्ठान का संचालन करता है। महामारी के प्रकोप से सुरक्षा हेतु गांव के मुख्य द्वार बंद करने का आदेश भी देता है! जहां एक ओर खोलपू के पद पर केवल पुरुष ही पदासीन हो सकते हैं वहीं दोपू के पद पर पुरुष या स्त्री कोई भी पदारूढ़ हो सकता है यदि उसमें योग्यता हो। थोलपू गांव का कमार/कर्महार/लुहार होता है जो दोपू पद पर आसीन व्यक्ति की तरह अपने काम में निपुण होता है और यह निपुणता उसे विरासत में मिलती है। इस पद पर भी केवल पुरुष ही पदारूढ़ हो सकता है।

शताब्दियों से स्वायत्त शासन की यह व्यवस्था सुचारू ढंग से चलती रही। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दि में जब अनाल क्षेत्र मणीपुर राजा के अधीन हो गया तो शनै:शनै: इस व्यवस्था में परिवर्तन होने लगा क्योंकि राजा ने अनाल की इस पारम्परिक व्यवस्था को मान्यता नहीं दी। अनाल गांव राजा के अधीन थे। उसने प्रशासन हेतु एक 'खुलकपा' (ग्राम प्रधान) तथा कुछ मंत्रियों (ग्राम परिषद के सदस्य) को नियुक्त किया तथा उनको कुछ अधिकार भी दिये। 'खुलकपा' राजदरबार में गांव का प्रतिनिधित्व करता और प्रत्येक घर से वसूल किया गया कर तथा भेंट राजा को समर्पित कर देता। विवाद में निर्णय लेने में यदि असमर्थ होता तो वह विवाद को राजा के समक्ष न्याय हेतु प्रस्तुत करता और राजा का निर्णय सर्वमान्य होता। मणिपुर राज्य के पहाड़ी क्षेत्र में 1956 में ग्राम प्राधिकरण अधिनियम लागू किया गया जिसके अंतर्गत ग्राम सभा के पदाधिकारियों का चुनाव होने लगा।

विवाह के उद्देश्य हेतु अनाल दो गोत्रों में विभाजित हैं—चंनाम (मूसुम) तथा कोरी (मुलछल)। एक ही गोत्र के सदस्यों के मध्य विवाह वर्जित है। चंनाम (मूसुम) पुन: 39 तथा कोरी (मुलछल) 40 उपगोत्रों में बंटे हैं। विवाह हेतु कोई पद्धति निर्धारत नहीं है। 'जूहा' एवं 'जूपम' ('साकी तथा प्याला') अर्थात् मदिरा के आदान-प्रदान के साथ विवाह सम्पन्न हो जाता है। विवाह का प्रस्ताव ब्रह्ममुहुर्त (पौ फटने से पहले) में वधू पक्ष के समक्ष रखा जाता है। ध्यान देने योग्य है कि भौगोलिक स्थिति के फलस्वरूप यहां देश के अन्य भागों की तुलना में बहुत शीघ्र सूर्योदय होता है। वधू पक्ष को स्वीकार हो तो वर का पिता 'जूहा' (चावल से बनी मदिरा भरा पात्र) परोसता है जो द्योतक है इस तथ्य का कि सगाई सम्पन्न हुई। मदिरा सभी उपस्थित जनों में वितरित कर दी जाती है। यदि प्रस्ताव अस्वीकार हो तो वधू का पिता उसी परिमाण की मदिरा लौटा देता है। 'जूहा' सम्पन्न होने के पश्चात वर पक्ष वधू पक्ष को 'जूपम' (मदिरा से भरा पात्र) भेंट करता है तथा इस दिन से लेकर तीन वर्ष की अवधि तक वर घर-जमाई की तरह रहता है तथा श्वसुर को स्वयं की सेवाएं नि:शुल्क देता है। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ हो तो उसे 'मिन' (शुल्क) अर्थात् एक हजार रुपये एवं मदिरा से भरा पात्र देकर भरपाई करनी पड़ती है। यदि रोकड़ा ना दे सके तो उतने मूल्य की वस्तुएं भी भेंट दे सकता है। इस विधि से सम्पन्न विवाह का ही संबंध विच्छेद मान्य है जिसमें जो पक्ष तलाक चाहता है वह एक हजार रुपयों के साथ एक सुअर और मदिरा से भरा पात्र देकर संबंध विच्छेद कर सकता है। अनियमित विवाह (हवामले खोवा), अर्थात् विवाह जिसमें 'जूपम-जूहा' सम्पन्न नहीं हुआ हो, उसका भी संबंध विच्छेद 150 रुपये रोकड़ा और मदिरा से भरा पात्र तथा एक सुअर दण्ड स्वरूप देकर हो सकता है। 'हो-सानूईथिन' वह संबंध विच्छेद है जब किन्ही अपरिहार्य कारणवश पति एवं पत्नी दोनों अलग होना चाहते हों। इस स्थिति में दोनों को पच्चीस रुपये तथा मदिरा से भरा एक पात्र शुल्क के रूप में देना होता है। यदि समय उपरांत दोनों एक साथ रहना चाहें तो समाज को कोई आपत्ति नहीं होती। 'नेपुंग' उस संबंध विच्छेद को कहते हैं जब कोई पति गर्भवती पत्नी को तलाक देना चाहे। इस स्थिति में पति को शुल्क के रूप में तीन सौ रुपये, एक सुअर और मदिरा से भरा एक पात्र देना अनिवार्य है। तलाक के पूर्व अथवा पश्चात यदि शिशु का जन्म हो तो मां का कर्तव्य होता है कि वह तीन वर्ष तक लालन पालन करे और पिता पोषण हेतु पांच सौ रुपये पत्नी को देने के पश्चात ही शिशु को अपने साथ ले जा सकता है। 'सिन्नुपेरू' वह तलाक है जो अनैतिक रूप से स्थापित यौन संबंध के मामले में होता है। इसमें दोषी को 2000 रुपयों का जुर्माना देना होता है। विधवा के पुनर्विवाह ('हिनीखूमिन') में उसके दिवंगत पति के गोत्र के सदस्यों को एक 'खोन' (लगभग 250 रुपये अथवा

उसके बराबर मूल्य की वस्तुएं) और परम्परागत मदिरा से भरा पात्र मिलता है।

अनाल दिव्य शक्ति में आस्था रखते हैं जिसे वे 'असापवन' कहते हैं। उसे सृष्टि रचयिता मानते हैं एवं उसका निवास स्वर्ग में होता है और जो सब देख रहा होता है। वह सर्वोच्च न्यायाधीश है! अनाल धार्मिक आस्थाएं, कर्मकांड देवता वांगपरेल से संबंधित हैं जिन्होंने एक अनाल युवती से विवाह किया था जो अनालखुल्लन गांव में एक विशाल शिला के रूप में पूजनीय है। आज भी अनेक अनाल आदि धर्म के अनुयायी हैं। अधिकतर ईसाई धर्म अंगीकार कर चुके हैं। धर्मांतरण भी अनाल को अपनी संस्कृति, परम्पराओं, आस्थाओं एवं रीति-रिवाजों को संजोये रखने में बाधक सिद्ध नहीं हुआ। उदाहरणस्वरूप, अनाल आज भी सामाजिक पर्व उतने ही उल्लास और उत्साह से मनाते हैं जितना धर्मान्तरण से पूर्व मनाते थे। अनाल लोकगीतों, लोककथाओं और गाथाओं में इन पर्वों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन पर्वों में महत्वपूर्ण है 'अकम' जो दिव्यशक्ति से आशीर्वाद हेतु आयोजित किया जाता है और इसके आयोजन में जो व्यय होता है वह गांव का धनाढ्य तथा योग्य व्यक्ति अदा करता है। सभी परिवारों को प्रीतिभोज में आमंत्रण मिलता है। योग्यता का आधार है कि उसने छः चरण पूरे कर लिये हों। ये चरण हैं जूदांग, बूथांग, सापिया, ह्मिनी, अकापीदम और दूथू। प्रत्येक वर्ष एक चरण पार करना आवश्यक है। जूदांग दो रात और दो दिनों में सम्पन्न होता है जिसमें एक 'मिथुन' (जंगली गौर), अथवा एक सुअर की बलि दे प्रसाद के रूप में मदिरा से भरे 5 बड़े (या 25 मझोले) पात्रों के साथ सभी निवासी भोज करते हैं। सामूहिक नृत्य, गान का भी आयोजन होता है। इस प्रकार आगामी प्रत्येक वर्ष इसी पैमाने पर आयोजन होता रहता और हर्षोल्लास का वातावरण बना रहता। जो सारे चरण पूरे कर 'अकम' सम्पन्न करने में सफलता प्राप्त कर लेता सम्मानार्थ मृत्यु उपरांत उसकी समाधि बनाई जाती जिसके चारों ओर बाडा (तेनूरंग) लगा दिया जाता जो प्रतीक था इस तथ्य का कि मृतक सौभाग्यशाली है और उसकी आत्मा परमात्मा में लीन हो गई है। दूसरा महत्वपूर्ण आयोजन है 'फमका'। इसे वही करता है जिसका ग्राम परिषद हेतु चुनाव होता है। आर्थिक क्षमतानुसार यह कर्तव्य है कि वह सभी को भोज में आमंत्रित करे। ऐसा विश्वास है कि जो इसका आयोजन नहीं करता उसकी 'अथोपन' (परलोक यात्रा) कष्टदायक हो सकती है। क्योंकि मृतक की आत्मा पर बोझ होता है कि उसने 'फमका' का आयोजन नहीं किया। इस आयोजन का मुख्य आकर्षण होता है कि सामूहिक गान एवं नृत्य जिसे 'जकादम' कहते हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य है आयोजक को सर्वप्रथम अपनी पत्नी के साथ नृत्य करना होता है। तत्पश्चात आमंत्रितगण अपनी अपनी पत्नियों के साथ सामूहिक नृत्य में सम्मिलत होते हैं। नृत्य के साथ-साथ वृन्दगान ('केनतांग') भी होता है। कुछ गांवों में इसी दिन ग्राम परिषद के नवनिर्वाचित सदस्य पदभार ग्रहण करते हैं।

'लूंगपाथा' का आयोजन मौलिक रूप से वह करता था जो पुत्रहीन होता था किन्तु वर्तमान में कुछ धनाढ्य व्यक्ति भी इसका आयोजन करने लगे हैं। इसमें भी प्रीतिभोज होता है और न केवल गांव निवासी अपितु आयोजन में अन्य गांवों में रहने वाले सगे-संबंधी भी इसमें सम्मिलत होते हैं। इस महत्वपूर्ण घटना को यादगार बनाने हेतु गांव के मुख्य द्वार पर एक बड़ी शिला स्थापित की जाती है जिस पर आयोजक के जीवन की विशेष घटनाएं चिन्हित की जाती हैं जैसे जन्म, विवाह की तिथि, शिकार किये गये पशुओं का ब्यौरा। मुख्य द्वार की सजावट की जाती है कि इसी के चारों ओर घूम-घूमकर 'केनतांग' किया जाता है।

इसके अतिरिक्त फसल कटाई के पश्चात 'होसारिका' (धनुर्विद्या प्रतियोगिता) का आयोजन किया जाता है। गांव की पश्चिमी सीमा पर बांसों से एक कुत्ते की आकृति बना उस पर निशाना लगाया जाता है। इस समारोह हेतु प्रत्येक घर से शुल्क के रूप में मदिरा ली जाती है जिसका सामूहिक रूप से सेवन किया जाता है। समारोह का अंत एक प्रीति भोज के साथ होता है जिसमें अन्य पकवानों के साथ बिल्ली, कुत्ते अथवा बंदर के मांस को भी परोसा जाता है। भोज हेतु बलि दिए गए जानवर का सिर और खाल गांव के मुख्य द्वार पर लटका दी जाती है तथा सूर्यास्त के पश्चात 'खोलपू' (मुख्य पुजारी) के नेतृत्व में प्रार्थना की जाती है तथा 'या' नामक पेड़ के पत्तों से द्वार को ढक दिया जाता है। द्वार के बंद हो जाने के पश्चात न तो कोई गांव से बाहर और न हीं अंदर आ सकता है। नियम उल्लंघन के दोषी को दण्ड के रूप में आयोजन पर हुए व्यय का भुगतान करना पड़ता है।

अनाल अपने पर्यावरण से भली भांति परिचित हैं तथा उसके संरक्षण हेतु कटिबद्ध हैं। इसी पर्यावरण से उनका जीवन है। उदाहरण के तौर पर बांस को लें जिसकी अनेक किस्में यहां के जंगलों में मिलती हैं और जो अनाल की जिन्दगी का एक अटूट हिस्सा है। 'रीपी' बांस से धनुष एवं तीर बनाते हैं। 'राजू' बांस से टोकरी तथा 'रूवम' बांस से घर की छत एवं 'रखा' बांस से दाओ (स्टील का गंडासा) की मूठ बनाते हैं। 'रखा' बांस का उपयोग पीने हेतु प्याला बनाने में करते हैं।

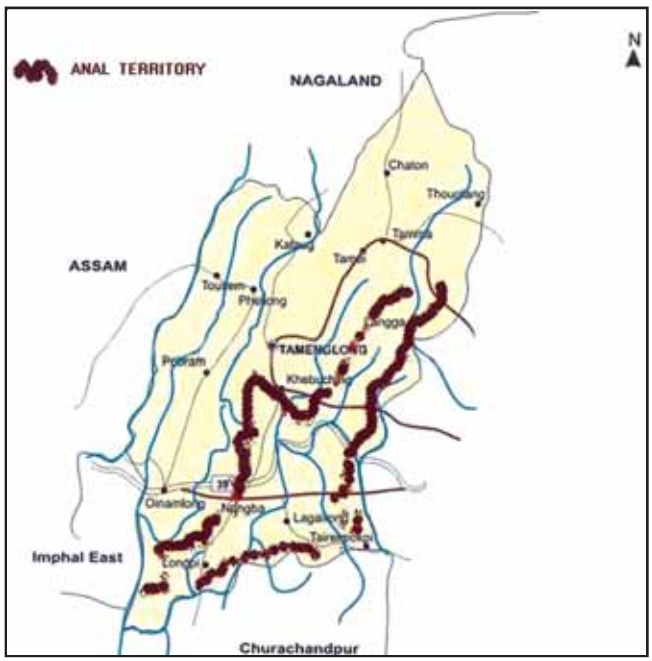

अनाल क्षेत्र

जंगल से किये गए शिकार का मांस सुनिश्चित मात्रा में सदस्यों में बांटा जाता है। उदाहरणस्वरूप, शिकार की गर्दन या तो शिकार करने वाले को मिलती है या उसके गोत्र के सदस्यों को। पिछला पैर बहन और उसके नातेदारों में बांट दिया जाता है। सीने का भाग मामा के परिवार में दे दिया जाता है। सामने वाला एक पैर स्वयं शिकारी अपने खाने के लिए और प्रीतिभोज के लिए रख लेता है। सामने का दूसरा पैर ग्राम परिषद के पदाधिकारियों को भेंट किया जाता है। शेष भाग सामूहिक प्रतिभोज हेतु दे दिया जाता है। (देखें आकृति-1)

ईसाई धर्म से प्रभावित अनाल ने समय को दिनों-महीनों में सीमाबद्ध कर देने का प्रयास किया है। जिस प्रकार ग्रिगेरियन कलेंडर के एक वर्ष में 12 महीने होते हैं उसी प्रकार अनाल ने एक वर्ष को 12 महीनों में बांटा है और ये महीने हैं, फलवा, आओल, आनी, पाते, पादुन, छाफोल, अनोल, जुनरवा, जुनपी, आराम, पातंग एवं ताबोल। बांट तथा पैमाने में आज भी वे परम्परागत मूल्यों को मानते हैं। 'वाई' (शब्दार्थ=बंद मुठ्ठी) द्वारा प्राणी की लम्बाई नापते हैं। 'लाम' (शब्दार्थ=हाथ) द्वारा क्षेत्रफल नापा जाता है। 'खुटू' (बीच की बडी अंगुली के अंतिम छोर से लेकर कोहनी तक की दूरी) से ऊंचाई नापी जाती है। 'खा' (अनूठे से उंगली तक की दूरी) द्वारा परिधि की लम्बाई नापी जाती है।

अनाल जीवन की विशेष अनुभूतियों में चिरस्मृत घटना है जापान की सेना की टुकड़ियों का आज़ाद हिन्द फौज के साथ मिलकर अंग्रेज़ी सेनाओं के विरुद्ध मणिपुर के जंगलों में लामबन्दी। इस युद्ध में कोहिमा (नागालैंड की राजधानी) में निर्णायक युद्ध हुआ जहां जापानी सेना हार गई और उसे वापस लौटना पड़ा। अत: अनाल विश्वराजनीति से परिचित हुए। पारम्परिक धनुष बाण की जगह ली बन्दूक और तोप चलाने की कला ने। स्वछंद विचरण करने वाले अनाल बर्मा (म्यांमार) की सीमा से सटे जंगलों के चप्पे-चप्पे से भलीभांति परिचित थे अत: उनकी इस जानकारी का लाभ उठाया जापानी और अंग्रेज़ी सेनाओं ने। इन्होंने अनाल युवकों को मुखबिर एवं मार्गदर्शक की हैसियत से सेना में भर्ती कर लिया। यहां से अनाल का अन्य संस्कृतियों, भाषाओं, जातियों, सभ्यताओं से परिचय हुआ।

विश्वयुद्ध समाप्त हुआ। भारत स्वाधीन हुआ और भारतीय संविधान ने आदिवासियों के उत्थान, विकास एवं प्रगति हेतु उनको संरक्षण दिया। भारत सरकार के विकास के कार्यक्रमों का अनाल ने भरपूर लाभ उठाया और आज अनाल जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति की ओर अग्रसर हैं। स्वयं को भारत की मुख्य सांस्कृतिक धारा का अभिन्न अंग मानते हैं। सही अर्थों में वो हमारे उत्तर-पूर्वी सीमांत के सजग सांस्कृतिक प्रहरी हैं जो अपनी संस्कृति की रक्षा हेतु बलिदान देने में कोई भी संकोच नहीं करेंगे।

डा. शिबानी राय
भूतपूर्व अधीक्षण मानववैज्ञानिक,
भारतीय मानवविज्ञान सर्वेक्षण, भारत सरकार,
121-सी, दिव्यज्योति अपार्टमेंट,
सेक्टर-19, रोहिणी, दिल्ली-110085

लोक संस्कृति के आइने में बुन्देलखंड के लोक कवि एवं उनका लोक साहित्य

डा० वीरेन्द्र सिंह यादव

लेखक एवं कवियों को चिरकाल से ही सृजन की प्रेरणा प्रकृति से मिलती रही है। प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में क्रौंच युगल की दशा से द्रवित आदि कवि के मुख से अनायास ही छन्द निकल पड़ा, तो वह ऐसे ही नहीं निकला उसके पीछे पर्याप्त कारण निहित थे। प्रकृति एवं लोक जीवन के अनुभव, जब लेखक अपनी कलम से लेखबद्ध करता है तो उसके पीछे उसका अतीत का अनुभव विशेष महत्व रखता है क्योंकि लोक जीवन प्रकृति की गोद में फलता-फूलता है। लोकभाषा की इसी क्षमता के बल पर ही कबीर ने दर्शनशास्त्र के सरस तत्वों को हृदयग्राही तथा सहज-सरल रूप में प्रस्तुत किया, वहीं तुलसीदासजी ने नानापुराण निगमागम की गरिष्ठ सामग्री जनसामान्य के लिए सुलभ-सुपाच्य बना दी। इसी क्षमता के बल पर बुन्देली कवि भी बड़े से बड़े तथ्यों को कितने सहज ढंग से अभिव्यक्त कर अमर हो गए और लोकसाहित्य के माध्यम से आज भी हमारे दिलों में बसते हैं।

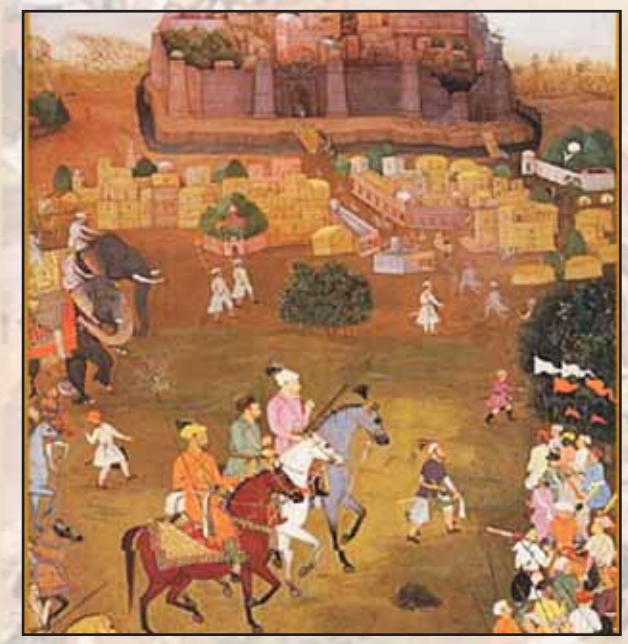

बुंदेलखंड की लोक संस्कृति

बुन्देली काव्यधारा के प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय कवि जगतिक माने जाते हैं। आपको बुन्देली का आदि कवि माना जाता है। कवि जगनिक का जन्म आगरा जिले की खैरागढ़ तहसील में हुआ था। ऐसी मान्यता है कि जगनिक कवि महोबा के राजा के दरबार में राजकवि के रूप में रहते थे। जगनिक कवि ने बुन्देली काव्य का महाकाव्य कहे जाने वाले आल्हाखण्ड की रचना की। इस काव्य में आपने महोबा के दो प्रसिद्ध वीर भाइयों आल्हा ऊदल की वीरता का वर्णन किया है। कवि जगनिक ने स्वयं युद्ध में बढ़-चढ़कर भाग लिया था और उसी का वर्णन आल्हाखण्ड में मिलता है।

आल्हाखण्ड को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने का प्रयास सर चार्ल्स इलियट के द्वारा सन् 1865 ई० में किया गया जिसमें मात्र तेइस युद्धों की स्थिति व्यंजित है। इसके बाद में आल्हाखण्डों में चौंसठ लड़ाईयाँ दिखाई गई हैं। इसमें युद्ध वर्णन के साथ-साथ शृंगार के दोनों रूपों संयोग-वियोग की भी व्यंजना है। साथ ही बुन्देलखण्डी मनोहारी प्रकृति की छटा भी दमकती है। आज भी बुन्देलखण्ड की ग्रामीण जनता के लिए आल्हाखण्ड धर्म ग्रन्थ और नगर महोबा कुरूक्षेत्र के समान दिखता है। आल्हा वीर रस में लिखित वीर गीत काव्य है। वीर रस प्रधान इस काव्य में लोकगाथाओं को लययुक्त और काव्याभिव्यक्ति के प्राचीन रूपों में व्यक्त किया गया है। आल्हा अन्याय के प्रति युद्ध द्वारा विजय प्राप्त करने के साथ-साथ मृत्यु के भय से विमुक्त वीरोचित घटनाओं के कलात्मक चित्र प्रतिबिम्बित करता है। आज से लगभग साढ़े-सात सौ वर्षों से अधिक समय में लिखित आल्हाखण्ड वर्तमान समय में जनसामान्य में खूब प्रचलित है।

आल्हाखण्ड में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विधियों के साथ-साथ युद्ध और शृंगार का वर्णन अधिक मिलता है। इसमें न केवल शूरवीर आल्हा, ऊदल की वीरता और उनके द्वारा लड़े गए युद्धों में उनके शौर्य, साहस और वीरता झलकती है अपितु राजपूतों की वीरता और शौर्य के लिए प्रेरित करने का प्रयत्न भी है—

बाहरबरस लौ कूकर जिये और तेरह लीजिये सियार।
बीस बरस लौ छत्री जिये, आगे जीये तो धिक्कार॥

प्रामाणिकता की दृष्टि से शोधकर्ताओं के समक्ष आज भी आल्हाखण्ड पर प्रश्नचिन्ह लग रहे हैं। कुछ भी हो परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि आल्हाखण्ड के अध्ययन से तत्कालीन मामलों की आकांक्षाओं उनकी भावनाओं तथा समकालीन ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी मिलती है। आल्हाखण्ड लोक भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में सफल रहा है।

ईसुरी बुन्देली लोक साहित्य के सर्वथा मौलिक कवि माने जाते हैं। आपकी विचारधारा को मानक हिन्दी काव्य की किसी भी धारा से बाँधना सम्भव नहीं है, न ही किसी शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत इस पर रोक लगाई जा सकती है। शृंगारकालीन इस कवि का जन्म मरूरानीपुर के निकट मेढ़की ग्राम में सन् 1881 ई. में हुआ। फाग नामक कविता की नई विद्या को जन्म देने वाले ईसुरी विभिन्न विषयों पर काव्य का सृजन करते रहे परन्तु इनके काव्य में शृंगार की प्रधानता रही। ईसुरी ने कविता को फाग विद्या के रूप में ही प्रस्तुत किया। फाग चार कड़ियों का होता है। जो बुंदेलखण्ड में चौकड़िया फाग के नाम से जाना जाता है। इस चौकड़िया छन्द में 28 मात्राएं होती हैं और सोलह तथा बारह मात्रा पर यति होती है।

ईसुरी की भाषा बड़ी सरल, सजीव और प्रभावी है। ठेठ बुन्देली शब्दों की व्यंजना आपके काव्य को प्रभावी बनाती है। आपने अपने शब्दों में व्यंजना पिरो दी है। साथ ही उसमें उपमेय और उपमान का समायोजना अप्रतिम रूप में समाहित हो गया है। इसके साथ ही लोकोक्तियों के भाव अभिव्यक्ति कर बुन्देली भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि की गई है। ईसुरी अपनी फागों में जहां एक ओर शृंगार और शांत रस दोनों का समावेश करने के साथ-साथ उपदेशात्मक शैली एवं प्रकृति का वर्णन करते हैं वहीं दूसरी ओर सांसारिक मायामोह से विरक्ति का भाव दिखाते हुए भक्ति और आध्यात्मिक की भावना भी व्यक्त करते हैं। ईसुरी ने इस सांसारिक देह (घर) को किरायेदार की भांति अपनाने की बात बड़े ही बेबाक ढंग से कही है—

बुंदेलखंड की लोक संस्कृति

बखरी हैयर है भारे की, दई प्रान स्यारे की,
कच्ची भीत उठी गुंदयाऊ, छाई फूस चारे की।
जा बखरी के दस दरवाजे, बिना कुची तारे की॥

गंगाधर ब्यास रीतिकाल के उत्तरार्द्ध के कवियों में बुन्देली धारा के प्रसिद्ध कवियों की शृंखला में आते हैं। आपका जन्म सं 1920 में छतरपुर के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बुन्देलखण्ड के लोक साहित्य के महान कवियों ने आपकी प्रसिद्धि है। ईसुरी की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आप छतरपुर, चरदवारी एवं पन्ना विजावर के नरेशों के यहां दरबार में शोभायमान रहे। आपकी प्रमुख कृतियां गौ महात्म्य, विश्वनाथ पताका, व्यंग पचासा, भरथरी चरित, अठटयाम, नीतिमंजरी, द्वारिका विहार आदि है।

गंगाधर व्यास की भाषा सरल सुबोध एवं सुमधुर है। अपकी कविता में उपमायें सटीक हैं। उपमेय उपमान का सुन्दर सामंजस्य स्पष्ट देखने को मिलता है। बुन्देली मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी यथा स्थान आपकी रचनाओं में देखने को मिलता है—

मति मलंगनि की गति सों, गज गमिनि नाम मिलौ सुखदानी।
त्यों द्विज गंग तजो नहिं ताहि, मराल हंसी कर है मनकानी॥

ईसुरी के समान संसार की असारता बताते हुए गंगाधार व्यास ने भक्तिपरक छन्द लिखकर ईश्वर भक्ति की भी अपनी रचनाओं में प्रधानता दी है। फाग छन्द एवं सैर की नई काव्य विद्या को जन्म देने वाले गंगाधर व्यास का बुन्देली लोकसाहित्य में विशेष स्थान है।

रामचरण हयारण 'मित्र' बुन्देली लोक साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर माने जाते हैं। ईसुरी के पश्चात काव्य के क्षेत्र में ठेठ बुन्देली का जो पुनर्जागरण हुआ उसमें रामचरण हयारण 'मित्र' का विशेष योगदान है। आपका जन्म झांसी में सन् 1905 ई० में हुआ। 'मित्र' जी का प्रारम्भिक

काव्य लेखन मानक हिन्दी में देखने को मिलता है। आपकी बाद की रचनाओं में बुन्देली के फाग, कुंडलिया, कवित्व के साथ नये-नये छन्दों का प्रयोग भी मिलता है जिनमें लोकविषयों के विभिन्न आयाम दृष्टिगोचर होते हैं।

रामचरण हथारण 'मित्र' की रचनाओं में श्रृंगार, वीर तथा शांत रस की प्रधानता होने के साथ ही माधुर्य गुण की प्रधानता भी परिलक्षित होती है। आपने अपनी स्वर लहरी और वाणी के द्वारा बुन्देली में नायिका भेद, प्रकृति चित्रण तथा राष्ट्रीय विचारों के बल पर बुन्देली को सर्वोच्च स्थान दिलाने की कोशिश की है। एक अच्छा लेखक एवं सफल शोधकर्ता होने के साथ-साथ आप बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य के अच्छे विवेचक एवं आलोक भी हैं।

बुन्देली जीवन का चित्रण आपकी रचनाओं में बड़ी ही सरलता से परिलक्षित होता है। आपके काव्य में बुन्देलखण्ड के कृषक, उनके पारिवारिक वातावरण, परिवार में होने वाले विविध दैनिक कार्यकलापों का चित्रण बड़ी ही सहृदयता के साथ व्यंजित हुआ है। जहाँ एक ओर विरह दिग्ध बाला का प्रणय मुखरित है तो कहीं उसके हाव-भावों के आहलाद की अभिव्यक्ति भी देखने को मिलती है—

1. कसकै जूरौ मार कछौटा, टइया दैके टेरौ।
2. मठो भमत में भौजाई की वजन लगी करधौनी॥

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हयारण जी का कृतित्व बहुआयामी है। आप एक सफल कवि, उत्तम शोधक साथ ही बुन्देली गायक के रूप में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

बुंदेलखंड

शिवानन्द मिश्र, बुन्देला नाम से चर्चित हैं। आपका जन्म ऐसे परिवार में हुआ जो साहित्य के अनुराग से परिपूर्ण था। आपकी प्रथम कविता ग्यारह वर्ष की उम्र में ही प्रकाशित हो गई थी। 'अपनौ देशबुन्देलन वालौं' नामक इस कविता के माध्यम से बुन्देला बुन्देलखण्ड के यशस्वी लेखकों में शामिल हो गये। अपनी इस वीर रस की रचना धर्मिता के लिए आप तत्कालीन हिन्दी के महान कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के द्वारा सराहे गये।

'बुन्देला'जी की रचनाओं में समाज का यथार्थ प्रतिबिम्बित होता है। वास्तविकता भी है कि साहित्य समाज से ही उद्भूत होता है जो उसे प्रेरित और प्रभावित भी करता है। जिस काव्य में जीवन का कोई आदर्श कोई प्रेरणा नहीं वह समाज को क्या देगा? यदि काव्य में जीवन मूल्यों की आस्था सुरक्षित है तो समाज का मंगल भी सुरक्षित है। यही भावना बुन्देला जी, अपनी प्रसिद्ध कविता 'डुकरो कौ सोच' में व्यक्त करते हैं—

बाबुल के घर को सपनो। लिपो-पुतो आंगन अपनो॥
पहिर पॉव में पैजनियाँ, ठुमुक-ठुमुक नाची रानियॉ।
दिन भर घर घूला बनाएं दिन भर फोरें।
दिन भर बच्चा बकरे गइया ल्यानी कौ॥

प्राय: यह माना जाता है कि आज भौतिक युग में हर व्यक्ति स्वार्थी एवं महत्वाकांक्षी हो गया है। भौतिक उन्नति के स्वर हावी होने के कारण मानव के नैतिक मूल्यों एवं संस्कारों का पतन हो रहा है, ऐसी स्थिति में सबसे बड़ी आवश्यकता सांस्कृतिक जागरण की है जिसमें जीवन मूल्यों की रक्षा का प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। शिवानन्द मिश्र जी की कविता 'कथा खेत खरहान' की में यह भाव विशेष रूप में दिख पड़ता है—

इन गॉवन में अपने पुरखा रहत हते,
ठाड़ी कर गये ठाय बनाय मडडयैन को।
रात-रात सोई गीले में महतारी,
पाल-पोस स्यानों पर गई जब मइन को।
खेत की माटी सरस कर पसीना में,
दो-दो वीघा लूम सकल सम्पदा हती।
कोहरी, चना मुर्सला धमके काम करों,
घी की चुपरी बोटत रहे खल इन को॥

शिवानन्द मिश्र बुन्देला के काव्य में छन्द योजना महत्वपूर्ण है जो ओज तथा प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। आपकी ओजपूर्ण कविता में लम्बे चरणों का प्रयोग हुआ है। भावों के अनुरूप छन्दों को आपकी कविता की एक विशेषता माना जाता है। 'डुकरौ के सोच' जैसी मर्मस्पर्शी रचना में (छन्दों की केवल चौदह मात्राओं का प्रयोग कर) देश के कर्णधार कहलाने वालों के चरित्र में जो खोखलापन आ गया है। उसे स्पष्ट करते हुए बुन्देला जी लिखते हैं—

उड़ गई चाल मरोरा की, हँसी बतासा-फोरा की।
माहुर विषधर करिया है, मेहंदी बनी अंगरिया है।
कचरा काटत है अब अखियन की कोरें।
नाती देख हंस पुपलौ मौ नानी कौ॥

स्पष्ट है कि बुन्देला जी के काव्य में बुन्देली लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति तथा सांस्कृतिक जागरण के साथ-साथ नैतिक उत्थान का प्रसंग हर जगह देखने को मिल जाता है। बुन्देला जी के बुन्देली जीवन के सृजन को बुन्देली समाज कभी भुला नहीं पायेगा।

दुर्गेश दीक्षित बुन्देली काव्य में मूलत: वीर रस एवं करूण रसों की रचना के साथ-साथ हास्य व्यंग्य की रचना करने वाले कवि माने जाते हैं। आपकी प्रमुख रचनाओं में हैं—गम इयन के गाँधी, ब्रजेद विछोह, अध्यापक जागो, बुन्देल का ठाठ, ज्ञान के गुरिया, लकी-

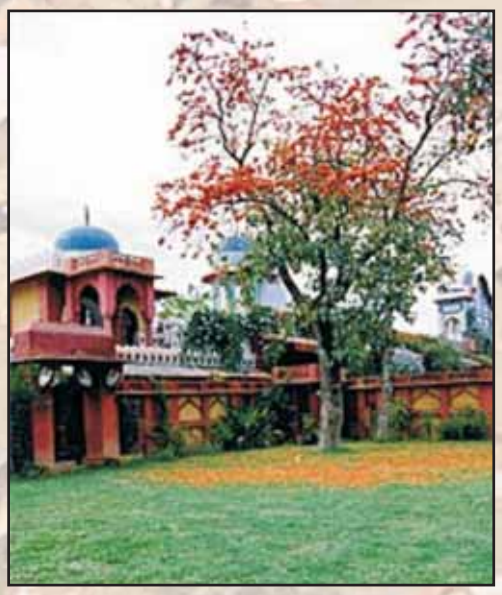

तकराई गैल, ऋतु संहारम का बुन्देली पद्यानुवाद, वलिदान (वीरांगला अवंतीबाई की शौर्यगाथा पर रचित खण्ड काव्य)।

किसी भी लेखक या कवि की वास्तविकता उसकी अभिव्यक्ति में निहित होती है क्योंकि कविता तथा स्वर्ण की परीक्षा करते समय मुख्य रूप से दो बातें ही देखने को मिलती हैं, पहली कि उसकी वास्तविकता क्या है इसके साथ-साथ उसमें गुरूत्व कितना है। वास्तव में देखा जाये तो आनन्द अभिव्यक्ति में ही निहित होता है और जीवन की प्रेरणा उसकी प्रगति में। कवि दुर्गेश दीक्षित की रचनाओं में भारतीय काव्यशास्त्र के रसों का (दस रसों) सम्मिश्रण देखने को मिलता है। वीररस का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

धन्न भूम भई मनकेड़ी की, जितै अवतरी रानी।
जुगन-जुगन नौ जाहर हो गई उनकी अमर कहानी॥
बड़े प्रेम से चबा चुकी ती देश-प्रेम का वीरा।
जियल-जियतनौ ईंधरनी की दूर करत रइ पीरा॥

स्पष्ट है कि यों तो दुर्गेश जी ने सभी रसों को अपनी रचनाओं में अपनाया है। पर वीर, करूण रस की प्रभावी योजना आपने की है। आपका हास्य-व्यंग्य पर भी पर्याप्त अधिकार था, जिसमें 'सीता चली मायके' रचना विशेष महत्व रखती है।

रतिभानु तिवारी कंज प्रगतिवादी विचारधारा के कवि हैं। समाज में बढ़ती विषमता के प्रति आप चिंतित हैं और इस विषमता को समाप्त करने के लिए आप पूंजीपतियों को दोषी ठहराते हैं। आपका जन्म अगहन शुक्ल वि.स. 2007 को टीकमगढ़ जिले के नैनुआग्राम में हुआ

था। आप पेशे से शिक्षक हैं। आपकी प्रमुख कृतियां-ओरछा वैभव,बुन्देलखण्ड की लोक परम्परायें, वीर हरदौल प्रमुख हैं। आपने 'वेतवा' एवं 'चेतना' नामक पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया है। बुन्देली साहित्य में लेखन के लिए आपको उ.प्र. के हिन्दी संस्थान लखनऊ द्वारा बुन्देली भाषा की सेवा पर मैथिलीशरण गुप्त से सम्मानित किया गया। बुन्देल भाषा साहित्य परिषद् पृथ्वी पुरट द्वारा बुन्देल भारती साहित्य पुरस्कार से भी आपको सम्मानित किया गया है।

सामाजिक विषमता एवं लोकसंस्कृति के बीच तालमेल को कवि रतिभानु जी बड़े बेबाक ढंग से करते हैं। कवि समाज के यथार्थ को रेखांकित करता हुआ लिखता है कि आज जहाँ गरीब के घर में खाने को एक टुकड़ा भी नसीब नहीं है वहीं अमीरों के कुत्ते दूध पी रहे हैं।

वे तो हलुआ रबड़ी सूंटे, दूध धरे कुत्ता नौरा खौं।
अड पेटॉ सोवें हम रोजऊँ, तरस रए कौरा कौरा खौं।

गाँव का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है—

गाँव हमाए सुरग लोक से
ओजू सॉसी मानी
बिरछन तरें डरी कादी, परतन लगे सुडानो।

कवि रतिभानु तिवारी कंज भारत की एकता और अखण्डता पर गर्व करते हैं। सर्व धर्म सद्भाव भारत में सदैव से रहा है। यहाँ की मानवता एवं भाई-चारे की भावना विश्व के लिए आज भी वंदनीय एवं पूज्यनीय मानी जाती है। कंज के काव्य में इन बातों का पूरा ध्यान रखा गया है। बुन्देली समाज को आपके इस सृजन पर नाज एवं गर्व है।

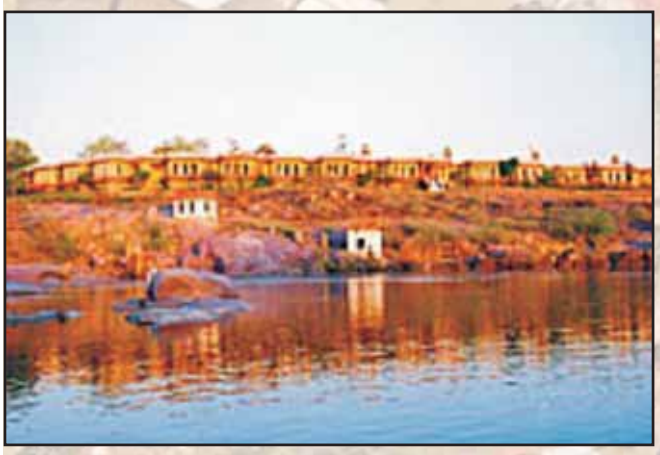

बुंदेलखंड

जगदीश सहाय खरे साहित्य सेवा में छात्र जीवन से ही रूचि रखने वाले बुन्देली मंच के जनप्रिय कवि हैं। आपने काव्य के अतिरिक्त गद्य में, नाटक एवं कहानियों के क्षेत्र में भी हाथ आजमाए। खरे साहब के काव्य में सामाजिक, राजनीतिक एवं सामंतवाद तथा प्रजातंत्र, साम्राज्यवाद की स्पष्ट छाप मिलती है, इनके साथ-साथ आपकी रचनाओं में आर्थिक विषमता की बातें भी देखने को मिलती हैं। इस प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में युग चेतना का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। समाज की ज्वलंत समस्या नशा पर टिप्पड़ी करते हुए 'जलन' लिखते हैं—

नाश हो जावै ऐसे नसा, करत जो लाखन की दुरदसा।
बना दो बिगड़ी फिर से राम, नसा को कवऊँ न लैहैं नाम॥

जगदीश सहाय खरे सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सदैव सजग रहे हैं। आपकी प्रथम बुन्देली रचना 'राम छई खाई लेत मॅहगाई' बहुत ही लोकप्रिय हुई—

राम घई, खाए लेत मॅहगाई।
उवै लगत, अब एक रूपइया, जितै लगत को पाई,
काकी होरी, काकी होरा ? कलजुग, परौ सबई पै तोरा॥
चिथरा भई तुमाई धुतिया, हमतो कहत लपैड़ौ बोरा,
चुटिया फीवा छोड़ के रंग लो, करिया राम बॉस कौ जीरा।
दार उधार मुहल्ला भरकी, अब नरे नई चुकाई,
कासै मैं आवै तिरकाई।

'जल' उपनाम से काव्य का सृजन वाले जगदीश सहाय खरे के आकस्मिक निधन से बुन्देली साहित्य स्तब्ध रह गया और ऐसे समय में आपके द्वारा सृजित रचनाएं बुन्देली समाज के लिए आज प्रेरणास्रोत मानी जाती हैं।

बुन्देली लोकसाहित्य के सन्तोष सिंह बुन्देला हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री भवानी प्रसाद मिश्र से प्रेरणा पाकर साहित्य के क्षेत्र में आये। आपने बुन्देली में चौकंड़िया फागें, सवैया तथा कविता का भी सृजन किया। गीत विधा को अपनी रचनाओं में आधार बना कर आपने विशिष्ट छन्द योजना का निर्माण किया जिसे बुन्देल छंद के नाम से जाना जाता है। इस छन्द के द्वारा बुन्देला जी ने अपनी लोकसाहित्य के क्षेत्र में विशिष्ट पहचान बना ली।

बुंदेलखंड

चाहे प्रकृति वर्णन का नजारा हो या मनुष्य के वास्तविक जीवन का वर्णन या विरही व्यक्ति के मनोभावों का चित्रण या वर्षाकाल में चलने वाली ठंडी मदमाती हवा जो तन-मन को एक विशेष प्रकार की अनुभूति प्रदान करती है। इन स्थितियों का वर्णन करने में बुन्देला जी को सिद्धहस्तता प्राप्त है। एक दीन-हीन व्यक्ति का वर्णन इस प्रकार है—

डम हैं दुखिया-दीन गमइयाँ, जिनको कोऊ जगत में नइयौ।
फिर ऊसई चटकाउट पनइयाँ, कहावै अपढ़ा देहाती॥
दो रोटिन के ताने मारैं रात-दिन छाती, तोऊ न मिल पाव।
न सुख सैं खा पावैं॥

सन्तोष सिंह बुन्देला की रचनाओं में जहाँ एक ओर बिटिया में बेटी के जीवन का मार्मिक वर्णन मिलता है। वहीं 'लमटेरा की तान' में लोक जीवन की उमंग सजीव सी दिखती है। बुंदेला जी के काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि उसने लोक एवं मानव जीवन के गूढ़ अनुभव छिपे हुए हैं जो पाठकों को पढ़ते ही एक अलग तरह के रस की अनुभूति कराते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तोष सिंह 'बुन्देला' का काव्य सृजन सफल एवं लोकोपयोगी है।

'अवधेश' उपनाम से चर्चित बुन्देली काव्य के हरफन मौला अवधेश किशोर श्रीवास्तव का जन्म ग्राम मही कुम्हरा, मोंठ में हुआ था। आपने हिन्दी, उर्दू, ब्रज तथा बुन्देली में पर्याप्त रचनाएं सृजित कीं। आपकी लगभग दो दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें भ्रमवा महाकाव्य विशेष महत्व रखता है। रामकाव्य परम्परा से अलग हटकर श्रमणा के चरित्र को अवधेश जी विशिष्ट ढंग से चित्रित करते हैं—

हरिचरण से निःसृत है जब, हरि प्रिया पयपूत।
हरिचरण से निःसृत है फिर क्यों अछूत-अछूत॥

गद्य और पद्य में समान रूप से सृजन करने वाले अवधेश जी की बुन्देल भारती में बुन्देली रचनाएं संकलित हैं। बुन्देली रचनाओं के साथ उर्दू और ब्रजभाषा में रचनाओं का संकलन 'अवधेश जी का रचना संसार' में देखने को मिलता है। आपकी रचनाओं में ओज, माधुर्य तथा प्रसाद गुण के साथ-साथ अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों का समाहार भी देखने को मिलता है। आपने बुन्देली पंचतंत्र में बुन्देली कहानियां, नाटिका वाटिका में बुन्देली नाटक गीता और बाइबिल का अनुवाद भी किया है। कवि का मानना है कि बुन्देली और ब्रज अलग-अलग नहीं हैं बल्कि बुन्देली का ही नाम ब्रज है—

ब्रज और बुन्देली जो दो कहि हैं,
हम तो कहि है वो अजान बड़ी है।
जड़ मूल सवैई बुन्देली की है
ब्रजवारिन ने ब्रज नाम गढौ है॥
कवि केशव की कविताई ही सौं
जा बुन्देली के पानी पै पानी चढ़ो है॥

शब्दों के चमत्कार के माध्यम से कवि अवधेश ने बुन्देली पानी और वाणी के प्रभाव को अपने एक छन्द में इस प्रकार व्यक्त किया है—

बुन्देली की सुनो कहानी, बुन्देली की बानी में।

बुंदेलखंड

बुंदेलखंड

पानीदार यहाँ का पानी, आग यहाँ के पानी में॥

अवधेश किशोर श्रीवास्तव ने सभी विषयों पर अपनी रचनाएं लिखी हैं। वंदना राष्ट्रीय गीत, प्रकृति चित्रण, झाँसी की रानी विषयक छन्द पर्वोत्सव, उलट वासियाँ एवं भक्ति परक कविताएं आपकी लेखनी से निकली हैं। इस तरह कवि 'अवधेश' ने समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए साहित्य का सृजन कर बुन्देली एवं अन्य साहित्य के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी है।

स्पष्ट है कि बुन्देली धरा वीरों से खाली नहीं है और समय-समय पर इसमें महान साहित्य सृजन कर्मियों ने अपनी रचनाओं से यहाँ के जनमानस में न मिटने वाली छाप छोड़ी है। बुन्देली लोक साहित्य के इन सशक्त हस्ताक्षरों के अलावा बुन्देलखण्ड की माटी में और भी बहुत से लेखक एवं कवि सृजनरत हैं। साहित्य जगत में ऐसी महान् विभूतियां सामने नहीं आ पायी हैं अर्थात् बुन्देलखण्ड के इतिहास के गर्त में और भी अनेक ऐसी प्रतिभाएं पड़ी हैं जिन्हें अपनी रचनाधर्मिता का प्रतिफल नहीं मिल पाया है। आज जरूरत है समाज के बुद्धिजीवियों एवं साहित्य प्रेमियों को इन प्रतिभाओं के बारे में शिद्दत के साथ चिंतन करने की जो इतिहास के अंधेरे में पड़े हैं, उन्हें प्रकाश में लाने की।

डा० वीरेन्द्र सिंह यादव
प्रवक्ता-हिन्दी विभाग
डी.वी.(पी.जी.) महाविद्यालय
उरई (जालौन) उत्तर-प्रदेश मो. 094159224888

लोक-संस्कृति का संवर्द्धन प्राकृतिक स्त्रोतों के संरक्षण के समान है.....

प्रो० मंजुला रणा

प्रकृति को जब हम पर्यावरण की सीमा तक विस्तीर्ण करते हैं तो परि+आवरण की परिकल्पना, इसे पृथ्वी के चारों ओर की संकल्पना से आवृत्त करती है। प्रकृति की इस आवृत्ति में केवल प्राकृतिक स्त्रोत ही नहीं आते अपितु हमारी लोक-परम्परा में व्याप्त वह लोक-संस्कृति भी समाहित रहती है जो लोक के मानस में रची-बसी है। प्रत्येक जन का अपना सांस्कृतिक परिवेश होता है, जो उसके जीवन में गतिशीलता का संचार करता है। भौगोलिक पर्यावरण के साथ-साथ सांस्कृतिक स्पन्दन का मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यही संकेत उसके संस्कारों को निर्मित करते हैं, जिनसे जनमानस आदर्श समाज का निर्माण करता है। यह एक सृजनात्मक ऊर्जा है, जिससे हम मनुर्भव: अर्थात् 'मनुष्य बन' के आदेशों का अक्षरश: अनुपालन करते हैं। इस संस्कृति का संरक्षण करके हम अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को ही सुदृढ़ नहीं करते वरन् अपने आर्थिक-जगत् को भी मजबूती प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि पहाड़ों पर उगते जंगलों, बर्फ या नदियों को ही क्या हिमालय कहा जाए? सच तो यह है कि अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं पर आधारित लोक जीवन के कारण ही हिमालय का लावण्य अपने यौवन पर आ सकता है। वस्तुत: सृष्टि के समस्त उपादान हैं तो मानव के अभ्युदय के लिए ही.....। आइए! हिमालय के इस अतुलनीय वैभव से रू-ब-रू होते हैं।

संस्कृति, सभ्यता की अपेक्षा चिरंजीवी है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त है, जैसे फूलों में उनकी सुगन्ध, यानि सभ्यता वह वस्तु है, जो हमारे पास है किन्तु संस्कृति वह चेतना है, जो हममें व्याप्त है।

सभ्यता और संस्कृति का आधार स्तम्भ हिमालय का एक खण्ड केदारखण्ड और दूसरा कूर्मांचल माना गया है। यही दो आधुनिक गढ़वाल तथा कुमाऊँ प्रान्त हैं, जो प्राचीन साहित्य में इलावृत्त, ब्रह्मपुर, उत्तराखण्ड, हिमवन्त आदि नामों से विख्यात है।

पुराणों की जनपद सूची में भारद्वाज नामक जनपद को गढ़वाल माना गया है। ''गढ़वाल नामकरण 1500 ई० पूर्व पड़ा जब राजा अजयपाल ने छोटे-छोटे बावन गढ़ों को विजित कर एक-छत्र राज्य की नींव डाली। कुमाऊँ का वर्णन स्कन्द पुराण के मानसखण्ड में आता है। उत्तराखण्ड का अधिकांश भाग पर्वतीय है। प्रशासनिक दृष्टि से 13 जिले, 49 तहसील, 92 विकासखण्ड, 86 नगरीय केंद्र, 16,826 गांव तथा 53,483 वर्ग कि.मी. क्षेत्रफल है। आकार की दृष्टि से मध्यम आकारीय यह राज्य अपनी प्रकृति, संस्कृति, आवश्यकताओं, सम्भावनाओं, संसाधनीय विशिष्टताओं व अपेक्षाओं की दृष्टि से एक सक्षम राज्य है। भौगोलिक सदंर्भ में 80^0 43^0 उत्तरी अक्षांश से 31^0 28' उत्तरी अक्षांश, 77^0 32' पूर्वी देशान्तर से 81^0 पूर्वी देशान्तर तक विस्तृत है।

हिमालय प्राचीन काल से ही धार्मिक अनुष्ठानों का पावन तीर्थ रहा है। यह केवल सौन्दर्य का आगार ही नहीं वरन् जीवन की उच्चता, संयम, चिन्तन का स्त्रोत भी रहा है। यहां के पर्वत श्रृंगों और नदी-तट अनेक ऋषि-मुनियों की तपस्थली रहे हैं। शिव और पार्वती जिसे यहां 'उमा' नाम से पूजा जाता है, उनका अधिवास, नर-नारायण की तपोभूमि और पाण्डवों की वनवास तथा पश्चात्ताप भूमि यही है। शिव यहां के अधिदेव और मां पार्वती इस क्षेत्र की अधिष्ठात्री मानी जाती हैं। कमलेश्वर में राम द्वारा शिव को अपना नेत्र अर्पित करने की मान्यता प्रचलित है और आज भी यह सिद्धपीठ श्रीनगर में विद्यमान है। बदरी-केदार, गंगोत्री तथा यमुनोत्री धाम की दीप्ति, मोक्ष दायिनी गंगा का मायका यही क्षेत्र है।

लोक परम्परा का आरम्भ यहां की लोक गाथाओं में अक्षुण्ण है। इनमें धार्मिक, पौराणिक जागर गाथाएं पूजा के अनुष्ठानों में जागरी पुरोहितों के द्वारा गाई जाती है, इसके अतिरिक्त औजी-बादी, चंफ्याहुड़किया भी ये गाथाएं गाते हैं। हिमालयी गाथाओं के संरक्षण का महत्वपूर्ण दायित्व औजी, हुड़क्या और जागरी के हाथों में है। जागरी डौंर-थाली बजावर देवी-देवताओं के आख्यानों के साथ पूजन सम्पन्न करवाते हैं। ये आख्यान स्थानीय बोली में गाए जाते हैं। 'हुड़क्या' एक विशिष्ट प्रकार के वादक हैं। ये वीर-गाथाओं को गद्य-पद्य मिश्रित शैली में हुड़के की थार पर सुनाते हैं। प्रत्येक मांगलिक कार्य के शुभारम्भ में औजी द्वारा सर्वप्रथम ढोल बजाकर गणेश वन्दना की जाती है।

पैली न्यूति-न्यूति वेद मुखी बरमा।
दूजै न्यूति-न्यूति औजि कु बेटा॥

सर्ववर्ण समभाव का अनुपम चित्र इन परम्पराओं में द्रष्टव्य होता है, जब हम पाते हैं कि गांव में इन समुदायों से कका, काका, दीदा, भुली के नाते जुड़ते हैं तथा औजी भी अपनी वृत्ति के परिवारों की बेटियों को 'दिसाध्याणी' कहकर संबोधित करता है तथा उसके मंगल की सदैव कामना करता रहता है। जागर गाथाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—जागर गाथाएं, जिन्हें धार्मिक गाथाएं भी कहा जाता है। पंवाड़े-अर्थात् वीर-गाथाएं तथा प्रणय-गाथाएं। जनकल्याण की भावना इन जागरों का प्राणतत्व है उदाहरणार्थ-''जागरन्ता ह्वै जावा मेरा भूमी का भूम्याल, खेती का खितरपाल, थाती भूमि का पञ्चनाम देवताओं, मेरी धरम नगुरी का लोगों.....।''

ये परम्परागत शब्द विश्व कल्याण की भावना को आत्मसात करने में सक्षम हैं, जो सम्पूर्ण जड़-चेतन, स्थावर-जंगम को जागृत करने की सामर्थ्य रखते हैं। कालिदास के रघुवंश तथा महाभारत के जागर पर्व प्रसंग में इस शब्द का उल्लेख किया गया है। प्राय: ये जागर नृत्यमयी उपासना के साथ अनिष्टकारिणी शक्ति की मनौती के रूप में गाए जाते हैं। भूत, आछरी तथा ऐड़ी की पूजा का विधान इन जागर गीतों में प्राप्त है। गढ़वाल और कुमाऊँ में जीतू, रमोला, हारू, गंगनाथ, रूणिया, गोल्ल, कलुआ आदि जागरियों के प्रमुख देव हैं। कृष्ण-रूक्मणी, सुजू की सुनारी, कुसुमा कोलिन, मोती माला की प्रणय गाथाएं इस प्रदेश में बहुतायत में गाई जाती है। कृषि प्रधान प्रान्त होने के कारण राम की अपेक्षा कृष्ण यहां अधिक लोकप्रिय हैं। यथा—

द्वारिका को धन होलो परभू, मथुरा को ग्वैर।
गायों को गोपाल होल, गोप्यों कू मुरूल्या ऽऽऽरे।

इसी प्रकार अर्जुन और वासुदन्ता की प्रणय कथा जागरों में लोकप्रिय मानी गई है। गढ़वाली गाथाओं में वासुदन्ता को नाग-कन्या कहा गया है। नन्दापाती के रूप में गढ़वाल और कुमाऊँ की सांस्कृतिक एकता का प्रमाण मिलता है। नन्दा यहां की प्रसिद्ध देवी है। यह उस पहाड़ी कन्या का प्रतीक है, जो ससुराल में मायके की याद में आकुल है। नन्दाजात परम्परा कत्यूरियों से आरम्भ मानी जाती है। नन्दा घुंटी, नन्दा कोट, नन्दादेवी, नन्दागिरि जैसे शिखर और नन्दाष्टमी जैसे त्यौहार नन्दा के महत्व को उजागर करते हैं। पंवाड़े इस क्षेत्र की वीर-विरुदावली के रूप में जाने जाते हैं। पंवाड़ों को गाए जाने से न केवल वीरता के भावों का संचरण होता है अपितु इन्हें देवता के रूप में पूजा भी जाता है। यह शब्द वीर काव्य अथवा चरित काव्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। गायक सभी पंवाड़ों को विलम्बित लय में गाते हैं तथा मर्दो, महाराज तथा सुणदी सभाई आदि संबोधन प्रयुक्त होते हैं। मंगलाचरण के बाद ''माई मर्दान का चेला, सिंहणी की जाया, मर्द मरी जांद, बोल रई जांद'' आदि उच्चारण किसी न किसी भाव-सूत्र के द्योतक हैं। यह परम्परा विरूदावली गायन के समकक्ष मानी जाती है।

गढ़वाल के कुछ भागों में कैलापीर, नगेलों, घंटाकर्ण, भांसर, नरसिंह, बिनसर, गढ़देवी, खितरपाल, हनुमान के भी जागर लगते हैं। कुमाऊँ में गोल्ल, गंगनाथ, भोलनाथ, चौमू, कलविष्ट, हरू, रूणिया की भी जागर गाथाएं प्रचलित हैं। दोनों प्रान्तों में निरंकार के जागर समान रूप में प्रचलित हैं। वस्तुत: ये लोक-गाथाएँ गांवों को सांस्कृतिक संजीवनी प्रदान करती हैं। एक साथ रहना-एक देव की आराधना से सामूहिक हित की बात सामने आती हैं। समूह की दृढ़ता से आस-पास का सम्पूर्ण वातावरण स्वयं शुद्ध हो जाता है।

इसी प्रवाह को यहां के लोक नृत्य और लोकगीतों ने अपनी अद्भुत शक्ति से सिंचित किया है—उत्तराखण्ड का आचार-विचार, नृत्य गीत प्रधान है। भगवान शंकर की तप:स्थली, गौरा का मैत, जहां लीला पटु शंकर अघोर तपस्वी के रूप में व्याप्त है। वहां उनके अलौकिक नृत्य की छाप कण-कण में व्याप्त है। ढोल, दमामा, नगाड़ा, हुड़की, आदि यहाँ के सामान्य वाद्य हैं। तूरी और रंगसिंहा युद्ध वाद्य हैं। कभी ये युद्धसूचक माने जाते थे किन्तु अब उनका प्रयोग देवयात्राओं और वर यात्राओं में किया जाता है। भंकोरा तथा डौंर-थाली का प्रयोग सामूहिक वादन के रूप में किया जाता है। आदि संगीत के आदिस्त्रोत जिन गंधर्वों किन्नरों को माना गया है, उनके वंशज उत्तराखण्ड के औजी, बेड़ा, वाद्यी इस परम्परा को सुरक्षा प्रदान कर रहे हैं। 'ढोल' यहाँ का प्रिय वाद्य है। गढ़वाल के जीवन का कोई भी अवसर ढोल के डिम-डिम घोष से अछूता नहीं है। खेत-खलिहान से शुरू होती इसकी यात्रा राज-प्रासादों को भी अपनी अनुगूँज देती है। सम्पूर्ण साहित्यिक विधाओं का आरम्भ इस वाद्य के निनाद से माना गया है। जय घोष करने के साथ-साथ इसकी ध्वनि वीरता और पौरुष का संचार करने में भी सक्षम मानी जाती है। उदाहरणार्थ—यदि कहीं कोई नवीन मंदिर या दुर्ग का निर्माण होना हो तो मुखिया ढोल के द्वारा ही सभी को एकत्रित करता है। पुन: उत्तेजक शब्दों और ढोल की थाप से सामूहिक निर्णय के कार्यों को साधित करना उसका उद्देश्य होता है। यथा—

''जै की लोहा की जंघा पौन को सरीर त्वै द्यूला भड़खाजुड़ी बुखणी बोरो, सामल सौ मण, लोहा की गजा साधलो जसीलो ह्वै रौलो धरम को कारज साधीक औलू'' अत: शक्ति का आह्वान करके कठिन से कठिन कार्य भी इन उत्तेजक ध्वनियों के सहारे किया जा सकता है।

ढोली के स्वरों में सम्पूर्ण गाँव के कल्याण की जो भावना होती

हैं, उस पर स्वयं देवता भी नतमस्तक होते हैं। निश्छल भाव से सबका भला करने की याचना करता यह उदाहरण गढ़वाल की लोकपरंपरा का अनूठा नमूना हैं—

''जसीला ह्वैक रया मेरा
भूमि का भूम्यालो खेती खेतरपालो
न्यूती बुलौलू पूजीक पठौलू
जसीली पूड़ी खाया अफू
थोड़ा द्यूलों भौत मान्या
मैत्यों को मण्डाण जसीलो कै रैया
अजाण की पूजा सजाण माण्या''

क्या समृद्ध साहित्य लोक सांस्कृतिक की इस खुशबू से प्रभावित नहीं होगा! हिमालय की उच्चता इन्हीं लोक गीतों से सार्थक हैं। प्राय: यहाँ के गीत तथा नृत्य धार्मिक भावनाओं से अनुस्यूत हैं। गाँव की एकता को यदि देखना है तो चौंफुला, छोपती, तांदी, थाड्या नृत्य को संरक्षित करना होगा। श्रमजीवी होकर अपनी थकान मिटाने में इन नृत्यों का विशेष योगदान है। इसी श्रृंखला में कुमाऊँ का चांचरी नृत्य अपनी विशेष आभा से सम्मोहित करता हैं। नृत्य के साथ-साथ यहाँ के लोकगीतों का अपना विपुल भंडार है। द्विपदी, चतुष्पदी, षष्टपदी छन्दों के सहारे उत्तराखण्ड के लोकगीतों में संवादात्मक शैली प्रमुख मानी गई है। छोपती, चौंफुला, बाजूबन्द प्रणय गीतों से संबंध रखते हैं। न्यौली वन गीतों का अपना सौन्दर्य है। इनमें नृत्य नहीं होता क्योंकि ये गीत वनों में गाए जाते हैं तथा दूर रहकर प्रेमी पहाड़ के धारों में अपनी प्रेमिका को याद करके इन गीतों को गाते हैं। खुदेड़ गीत, लामण, ऋतुरैण भी इसी श्रृंखला की कड़ियाँ हैं।

लोक-नाट्य परम्परा का अक्षय भंडार हिमालयी संस्कृति का बीज बिन्दु है। गिरिराज हिमालय की पुत्री नंदा देवी की मार्मिक कथा गढ़वाल और कुमाऊँ जनपद को सौहार्द के सूत्रों में बांधती हैं। माँ नन्दा यहाँ की अधिष्ठात्री देवी हैं। एक भाई अपनी बहन की छवि नन्दा में अत्यन्त सहजता से ढूँढ़ सकता हैं। पर्वताञ्चल के समस्त जीवन मूल्य और जीवन शैली माँ नन्दा में प्रमाणित होती हैं। यहाँ के जीवन संस्कार के विभिन्न पक्षों में, यथा जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त संस्कारों में अपनी ईष्ट देवी की स्थापना की परम्परा विद्यमान है। जिसकी अभिव्यक्ति लोक गीतों, लोक नृत्यों, लोक नाट्य परम्पराओं, स्थापत्य आदि कला रूपों में स्वत: स्पष्ट होती है। नन्दा को देवी उमा का एक रूप माना गया है। वास्तव में शिव और शक्ति पर्वतीय जीवन शैली के मूल तत्व हैं। इसी ऊर्जा से संचालित पर्वतीय जन शक्ति के उन्नायक माने गए हैं। नन्दा देवी राजजात यात्रा प्रत्येक बारह वर्ष बाद ग्राम नौटी से प्रारम्भ होकर होमकुण्ड में समाप्त होती है। वस्तुत: यह एक सांस्कृतिक थाती है। इस अनुष्ठान में सामूहिक एकता की भावना विशेष प्रभावी रहती है। स्थान-स्थान पर अपने-अपने भावों को समर्पित करते लोग एक मंच पर एकत्रित होकर विश्वकल्याण की याचना करते हैं। नंदा की जागरे इस क्षेत्र का ऐसा मौलिक साहित्य है, जिसकी तुलना सकल विश्व के किसी भी लोक साहित्य से अतुलनीय है। हिमालय के व्यापक आध्यात्मिक स्वरूप का गुणगान करते ये लोक-नाट्य देश को एकता के सूत्र में पिरोने का संदेश देने में सफल हैं। नंदा किसी एक क्षेत्र विशेष की 'ध्याण' बहिन या बेटी न होकर सम्पूर्ण हिमालय की बेटी है। क्या यह भावनात्मक प्रसार विश्व को एकसूत्र में बांधने हेतु पर्याप्त नहीं हैं? सांस्कृतिक ऐक्य के इस सूत्र पर हजारों-हजारों साहित्य कुर्बान किए जा सकते हैं।

वस्तुत: लोकनृत्य तथा लोक गीतों ने उत्तराखण्ड के जन-जन को स्वरों से संवारा है। पर्वतीय जन-मानस विविध रंगों से सराबोर रहना जानता है। यही कारण है कि प्रकृति ने भी अपनी संपूर्ण आभा इसे सौंप दी है। असाध्य कार्य करके भी गाते-बजाते कब समय कट गया, इसका ज्ञान ही नहीं होता, अन्यथा यह भी सत्य है कि पहाड़ वासियों के दु:ख पहाड़ जैसे ही होते हैं। लोक संस्कृति के ये अवयव पर्वतवासियों को सहृदय बनाने में अपना अभूत पूर्व योगदान देते हैं। लोक कथाओं में वर्णित यहाँ का इतिहास साक्षी है कि जब भी हमारे देश पर विपदा आई तो पर्वत वासियों ने सर्वप्रथम अपने लाल देश को सौंपे। पौरूष व वीरता की कहानियों से लबरेज हिमालय की जनकांक्षाएँ हिमालय से भी ऊँची हैं। सांस्कृतिक पर्यावरण को सुरक्षित रखकर यहाँ की संस्कृति और सभ्यता को बचाया जा सकता है क्योंकि प्राकृतिक-सौन्दर्य, वन सम्पदा, जल सम्पदा, फल-सम्पदा, खनिज सम्पदा तभी जीवित रह सकेंगी, जब मानव-सम्पदा विकसित होगी। मानसिक रूप से जब तक हमारे विचार पवित्र नहीं होंगें तब तक हमारे प्राकृतिक स्रोत किसी भी प्रकार की उन्नति में सहायक नहीं हो सकेंगे क्योंकि पर्यावरण को केवल भौतिक प्रोन्नति की आवश्यकता नहीं है। हमारी वास्तविक उन्नति उस दिन सच्ची साबित होगी जब हम आत्मिक रूप से विकसित होंगे और इस कार्य में हमारी लोक संस्कृति हमारे लिए मील का पत्थर साबित हो सकती हैं। यही वह आधारशिला हैं, जहाँ से प्रेरणा लेकर हम आदमी को इंसान बनाने की शुरूआत कर सकते हैं। अत: इस संस्कृति का संरक्षण एवं संवर्द्धन करना किसी प्राकृतिक स्रोत के संवर्द्धन से कम नहीं हैं।

प्रो० मंजुला राणा
हिन्दी विभाग,
हे०न०ब०- गढ़वाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर, गढ़वाल

श्रीनगर (कश्मीर) के हाउसबोट और शिकारे

डा० ए. के. खन्ना

कश्मीर की खुशनुमा फ़िज़ा में श्रीनगर का डल झील में तैरते हाउसबोटों में ठहरने का अनुभव अपने-आप में अत्यधिक अनूठा है। कश्मीर घाटी में आने वाले पर्यटक अक्सर इन हाउसबोटों में ही ठहरना पसंद करते हैं। अगर झेलम नदी श्रीनगर की जीवन रेखा है तो डल झील बिना शक इसका दिल है, जो पर्यटकों को अपनी ओर सबसे अधिक आकर्षित करती है। डल झील के हाउसबोटों में ठहरने से भारतीय और विदेशी दोनों पर्यटकों को वह खूबसूरत अनुभव मिलता है, जिसे वे ताउम्र भुला नहीं पाते हैं।

कश्मीर की दिलक़श खूबसूरती का मंजर मौसम के बदलने के साथ-साथ बदलता रहता है। इसका प्रभाव वहाँ के लोगों के दिलो दिमाग पर पड़ता है और उनकी रोजमर्रा की जिंदगी, उनकी कला और कारीगरी में बयाँ होता है। उनके रोजमर्रा के जोश मे ठहराव के लिए शायद कोई जगह है ही नहीं। घाटी में आने वाली बाढ़, सूखे, आगजनी, भूकंप तथा आँधी तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाओं ने गुजरते वक्त के साथ यहाँ के वाशिंदो को धैर्यवान और दृढ़निश्चयी बना दिया है। कश्मीर में इंसान और इंसान के बीच एकीकरण की तुलना में इंसान और प्रकृति का तादात्म्य अपेक्षाकृत अधिक जाहिर तौर पर दिखाई देता है। नदियों और सोतों के बीच बहने वाली नहरों ने लोगों को उनकी बस्तियाँ बसाने में मदद की है तथा यहाँ के लोग अपनी संस्कृति में प्राकृतिक संसाधनों को शामिल करते हुए अपनी जद्दोजहद से भरी मेहनतकश जिंदगी जी रहे हैं।

फ़ोटो : शाहबाज़ खान

हाउस बोट

कश्मीर के वाशिंदों के व्यक्तित्व को काफी हद तक वहाँ के मार्ग में पड़ने वाली प्रकृतिक बाधाओं, मार्गो की अजेयता, वहाँ की सेहतमंद आबोहवा में उपलब्ध स्वास्थ्यवर्धक तथा पौष्टिक खाने की बहुतायत तथा किस्मों, भौगोलिक क्षितिज की सीमाओं ने काफी हद तक तराशा, सँवारा और ढाला है, उन्होंने अभिनव विचारों को खुले दिल से अपनाया और अपनी अलहदा पहचान कायम रखने में भी कामयाब रहे।

कश्मीर घाटी की उन्मुक्त नदियाँ और झीलें व्यापारिक जलमार्गो के रूप में लोगों से सहयोग करती है तथा कई किस्मों की पाक-प्रणलियों की जननी भी है, जो बुरजाहोम की नवप्रस्तर बस्तियों के समय से कश्मीर घाटी के समाज में आमेलित नृजातीय समूहों के विविध संग्रहों से प्रभावित रही है। वितस्ता/झेलम नदी ने घाटी के भौतिक इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

कश्मीर घाटी यहाँ आने वाले पर्यटकों के लिए जन्नत है, क्योंकि यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अद्वितीय है, तरह-तरह के मनोविनोद के साधन मौजूद हैं तथा कई प्रचीन और मध्ययुगीन कृतियाँ देखने को मिलती हैं तथा इसके साथ ही यहाँ आकर्षक हस्तशिल्प भी मौजूद हैं, जिनमें सदियों पुरानी परंपराओं की निरंतरता झलकती है, जैसे कि पिछले 5000 सालों से कश्मीर में खूबसूरत मखमली शॉलों का बुना जाना बदस्तूर जारी हैं। कश्मीर में बहुत से नृजाति समूह सूफी-संतों के साथ आए तथा वे यहाँ के साहसी लोगों के साथ घुल-मिल गए तथा साथ ही प्राचीन स्मारकों की समृद्ध विरासत और ओजस्वी कृतियों को अपनाया, ये स्मारक और कृतियाँ कला और वास्तुकला दोनों के संदर्भ में कश्मीर के बहुरंगे शानदार अतीत को दर्शाती हैं। डल झील निस्संदेह कश्मीर की श्रीनगर घाटी का सबसे बड़ा आकर्षण हैं।

फोटो : बलवीर जामवाल

हाउस बोट में कमरा

ब्रिटिश राज के दौरान, अंग्रेज आगरा और दिल्ली की उमस भरी गर्मी और धूल से परेशान थे और उन्हें कश्मीर की हरी-भरी ठंडी वादियाँ सुकून देती थीं, लेकिन कश्मीर के राजा उनको कश्मीर में जमीन खरीदने की इजाजत नहीं देते थे। अत: उन्होंने डल झील में हाउसबोट में रहने का विकल्प अपनाया। बाद में,नगीना झील और झेलम नदी के तटों का उपयोग हाउसबोटों का लंगर डालने के लिए किया जाने लगा। अक्सर यह कहा जाता है कि अगर आप हाउसबोट में नहीं ठहरे तो आपका कश्मीर आना ही बेकार है।

डल झील से तीन झीलें जुड़ी हुई हैं तथा तैरते हुए बागों के खूबसूरत बाँध इनको पृथक करते हैं, अक्सर यह पता लगाना कठिन होता है कि यह झील कहाँ शुरू होती है और कहाँ खत्म होती है। डल झील में हाउसबोटों को झील के तल से मजबूती से बाँधा हुआ होता है। अधिकांश हाउसबोट झील के दक्षिणी छोर पर होते हैं यद्यपि कुछ झेलम नदी के किनारे पर और नगीना झील के उत्तर में खड़े रहते है। झेलम दरिया शहर के मुख्य भाग से होकर बहती है तथा नदी को डल झील से जोड़ने वाली एक नहर के कारण शहर एक टापू जैसा लगता है। इन अप्राकृतिक टापुओं से सटा हुआ बूँद अथवा गेट नामक एक लोकप्रिय रास्ता है, जहाँ आपको सार्वजनिक डाकघर और हस्तशिल्प केंद्र दिखेंगे। टी आर सी में एक काफी बड़ा पर्यटक स्वागत केंद्र स्थित है, जो एक बड़ा परिसर है और पर्यटक विभाग का कार्यालय परिसर भी इसी में हैं। जम्मू और लेह की टैक्सियों के लिए यह प्रस्थान और आगमन का स्थल भी है।

डल झील 4 मील लंबी और 2.5 मील चौड़ी है और इसका क्षेत्रफल लगभग 10 वर्ग मील का है। दो सेतुक डल झील को तीन भागों में विभाजित करते हैं, उनमें से एक नयीद यार पुल से शुरू होता है और इसकी लंबाई लगभग 4 मील है।

डल झील एक सामान्य झील नहीं है अपितु जटिल नहरों की एक भूलभुलैया सी है। इस झील को सेतुकों की एक श्रृंखला द्वारा गगरीवाल, लोकुत डल और बोड डल में बाँटा गया है। झेलम नदी में पानी के प्रवाह को नियंत्रित करने के लिए तथा झील के शहर छोर पर डल मेट के पानी के प्रवाह को नियंत्रित करने के लिए एक नहर बनाई गई।

डल झील में दो टापू जैसे स्थल हैं जो अत्यंत लोकप्रिय पिकनिक स्थल हैं। झील के उत्तरी छोर पर सोना झील अथवा सिल्वर आईलैंड हैं जबकि रूपा झील अथवा गोल्ड आईलैंड दक्षिण में है, इन दोनों को चार चिनार के रूप में भी जाना जाता है क्योंकि उन पर चिनार के चार दरख्त मौजूद हैं। झील के मुख्य भाग बाउलवार्ड के अंत में एक तीसरा टापू नेहरू पार्क है, नेहरू पार्क के पूर्व में एक लंबा सेतुक झील को कोटर खला, कबूतर-घर की ओर जोड़ता है, जो पहले एक शाही ग्रीष्मकालीन घर था। शिकारे लंबी, पतली खूबसूरत नाव होते हैं, जो श्रीनगर की झीलों में बड़ी संख्या में दिखते हैं, उनका इस्तेमाल हाउसबोटों तक जाने, वहाँ से आने अथवा डल झील में ज्यादा समय तक सैर करने के लिए किया जाता है। समतल सतह वाले इन शिकारों में दिल के आकार के खूर अथवा चप्पू का इस्तेमाल किया जाता है। हाउसबोट की बाल्कनी से अद्‌भुत नजारा देखने को मिलता है क्योंकि डल झील में तैरने वाले शिकारे रंग-बिरंगी छटा बिखेरते हैं। झील में इत्मीनान से मटरगश्ती करते हुए ये शिकारे कभी तैरते हुए फोटो स्टूडियों के रूप में होते हैं, कहीं उन पर सब्जियाँ और फल बेचे जाते है।

निस्संदेह श्रीनगर में बिताए गए समय में डल झील के हाउसबोटों में बिताए गए पल सर्वाधिक आनंददायक, यादगार तथा सकून बख्शने वाले होते हैं। अपने परिवेश तथा उपयोग दोनों में ही ये प्रकृति के ज्यादा करीब हैं। ये हाउसबोट तीन इलाकों में मिलते हैं- डल झील, नगीना झील, जहाँ शोरगुल कम है तथा झेलम नदी के किनारे, जहाँ नावों का किराया अपेक्षाकृत सस्ता हैं। डल झील के हाउसबोटों पर ठहरने से जहाँ पर्यटकों को पानी में तैरते घरों में रहने का अनुभव मिलता है बल्कि उन्हें हाउसबोट से शिखर, झील के उस पार की धूप में सोने सी चमकती पर्वतमालाएँ, सड़कें, हिमाच्छदित चोटियों के नजारे भी देखने को मिलते हैं।

चूँकि हाउसबोट का उद्‌गम परिवार में बेटी के जन्म जैसा है। हाउसबोट के मालिकों को झेलम नदी, डल और नगीना झीलों में ही बसना पड़ा। अज्ञात राजनैतिक और सामाजिक कारणों से संभवत: पिछले 1000 वर्षो में परिवहन (नहर) के आधार का निर्माण करने वाला समुदाय अपने कठिन परिश्रम ओर धैर्य के भरोसे ही अपना जीवन निर्वाह कर पाया। उन्होंने डूँगा चलाने वाले अपने व्यवसाय में

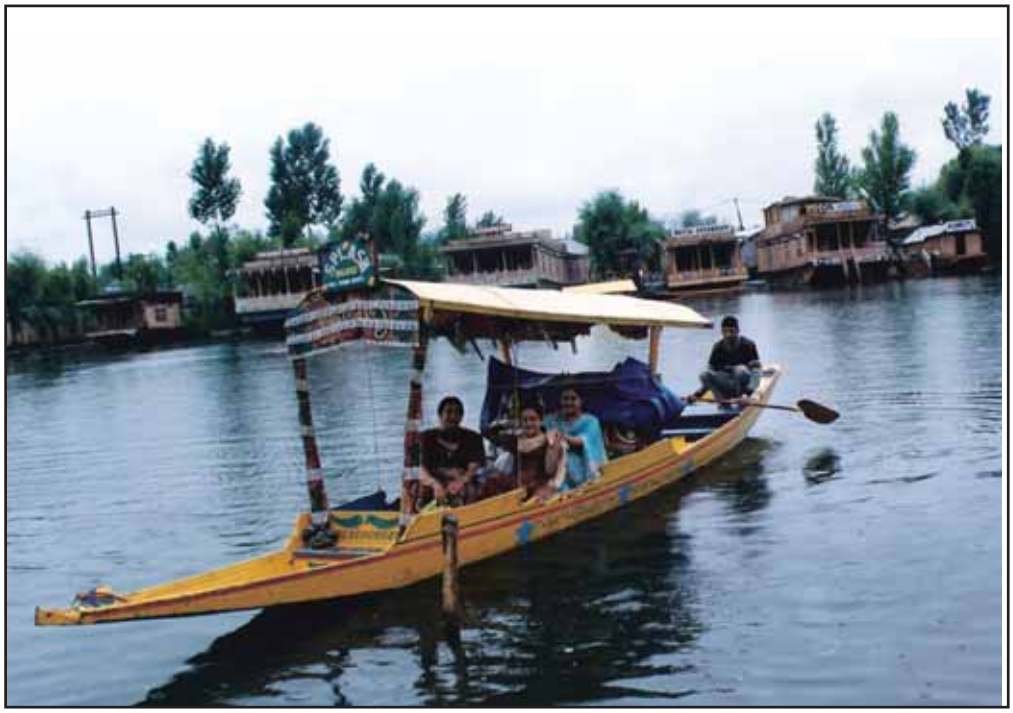

फोटो : बकुल जागीरदार

शिकारे

तरक्की करके हाउसबोट बनाई और उन पर लोगों को ठहराने लगे। दरिया के माध्यम से खानावाल से बारामूला तक व्यक्तियों और वस्तुओं को लाने और ले जाने वाले मृतप्राय परिवहन उद्योग के लिए यह संक्रमण का काल था। पहले केवल डोगरा शासकों द्वारा उपयोग किए जाने वाले बाननिहाल कार्ट रोड (अब राष्ट्रीय राजमार्ग एन एच 1 ए) के सार्वजनिक परिवहन के लिए खुलने के पश्चात कई प्रकार की नावों का उपयोग व्यक्तियों तथा सामग्री के परिवहन हेतु किया गया। व्यक्तियों तथा वस्तुओं को लाने और ले जाने के लिए विभिन्न प्रकार की नावों का उपयोग किया जाने लगा, जिसके कारण संभवत: घाटी के कुछ लोगों का ध्यान हाउसबोट से संबंधित व्यवसाय की ओर गया होगा, जिससे एक ओर लोगों को डूंगे में ठहरने का सुखकर अनुभव प्राप्त हुआ तथा ब्रिटिश लोगों को डूंगे में अपेक्षाकृत आरामदायक सुख-सुविधाओं से युक्त आवास मिला। कश्मीर घाटी के हस्तशिल्प में कई कला-कौशल जैसे काष्ठनक्काशी, पेपरमैश, कढ़ाई, चेन टाँके का कार्य तथा अद्‌भुत कश्मीरी व्यंजन शामिल हैं, मुगलों के संपर्क के कारण जिनमें सुधार आया।

हाउसबोट समतल सतह की नाव हैं, जिनमें होटल की सारी सुविधाएँ होती हैं। उनमें से कुछ ऐसी कश्मीरी कला और शिल्प से सजी होती हैं, जो विश्व के पाँच सितारा होटलों में भी नही पायी जाती तथा ये हाउसबोट प्रकृति के बहुत करीब होते हैं। डल, नगीना के शांत पानी तथा श्रीनगर शहर से गुजरने वाली झेलम नदी के किनारों पर हाउसबोट मिलते हैं। झेलम, शहर में लगभग 7 किलोमीटर की दूरी तक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से बहती है। डल लेक तथा अन्य कहीं भी रहने वाली नावों के लिए लाइसेंस होना जरूरी है। डल झील की हाउसबोट में एक ऐसा अद्वितीय संग्रह होता है, जिसमें हस्तशिल्पों की प्रत्येक किस्म तथा कश्मीर घाटी की समृद्ध परंपरा का प्रत्येक पहलू परिलक्षित रहता है। ये हाउसबोट कश्मीर घाटी की कला और शिल्प का भंडार हैं। इनमें संरक्षित कुछ शिल्प पानी में स्थित पर्यटक संग्रहालयों के रूप में जीते-जागते शोकेस का काम करते हैं। हाउसबोटों में दीवारदरी (टेपेस्ट्री), लिएन, लकड़ी पर नक्काशी, गलीचों के डिजाइन और रंग, पेपर मैशे के सुंदर नमूने देखने को मिलते हैं। कुछ हाउसबोट तो हस्तशिल्प की विविध वस्तुओं से भरे होते हैं। शहर के पाँच सितारा होटलों में भी इतनी सुंदर वस्तुएँ नही दिखतीं जो हाउसबोट की प्लास्टिक और कृत्रिम पदार्थो से बनी वस्तुओं के रूप में दिखती हैं।

हाउसबोट में एक ओर एक छोटा वरांडा होता है, जहाँ बैठकर लोग डल झील का नजारा कर सकते हैं और उसके पीछे लिविंग रूम होता है, जो सामान्यत: कश्मीर घाटी की परंपरागत कला और शिल्प से सजा होता है। इसके अतिरिक्त एक भोजन-कक्ष होता है और उसके अतिरिक्त दो अथवा तीन शयन-कक्ष होते हैं जिनमें सभी के साथ प्रसाधन-कक्ष जुड़ा होता है। हाउसबोटों को विभिन्न श्रेणियों में बाँटा गया है, जिनमें से प्रत्येक की सरकारी तौर पर अनुमोदित दरें होती हैं, जैसे सिंगल, डबल और भोजन अथवा भोजन के बिना ठहरने की अलग-अलग दरें होती हैं। बच्चों के लिए अथवा पूरी नाव किराए पर देने की अलग दरें होती हैं।

ए श्रेणी से लेकर सी श्रेणी तक की हाउसबोटों में सुविधाओं, परिवेश और सेवाओं के आधार पर सुविधाओं में काफी अंतर होता है। डल झील में चलती-फिरती सुपरमार्केट अथवा शिकारे बहुतायत में होते हैं जिनमें आप अपनी जरूरत के सामान जैसे शीतल पेय, चॉकलेट, अथवा आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ उसी प्रकार से खरीद सकते हैं जैसे कि आप अपनी पड़ोस की दुकान से खरीदते हैं, यह एक अनूठा अनुभव है। इन शिकारों में सब्जियाँ, फूल, फल और अन्य आवश्यक वस्तुएँ जैसे कोक से लेकर फिल्म-रोल इत्यादि बिकते है। अधिकांश बड़े हाउसबोटों के अपने नाम होते हैं, जैसे पैराडाइज, मैस्कॉट, अलीफ्राना, सैन्सुई, एच एम पैनफॉर इत्यादि।

डा० ए. के. खन्ना
उप अधीक्षक पुरातत्वविद्
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण
श्रीनगर सर्किल
141/ ए डी, गाँधी नगर
जम्मू (जम्मू और कश्मीर)
अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद : मुक्ति सक्सेना

मिथिला का कोहबर घर

डा० मृदुला सिन्हा

कोहबर घर अर्थात् सुहागरात में दुल्हा-दुल्हन का प्रथम मिलन का कमरा। वह कक्ष जहाँ सात फेरे लेने के उपरांत नवविवाहित वर-कन्या पहली बार एकांत में मिलते हैं। विवाह संस्कार का अंतिम शास्त्रीय अनुष्ठान। इस घर में दोनों के मिलन पर ही विवाह संस्कार का विधि-विधान संपूर्ण होता है।

वर कन्या का मिलन। एक अनजान कुल परिवार का लड़का, एक अनजान लड़की से मिलता है। मिलना, बातचीत करना, हाथ मिलाना तो बहुत दूर, वे दोनों एक दूसरे को कभी देखे भी नहीं होते। परम्पराओं के अनुसार बेटी का पिता ही वर ढूँढ़ कर लाता है। वह अपनी बेटी के रंग-रूप, गुण-शील के अनुसार वर ढूँढ़ता, गुण मिलाता है। उसकी सम्पत्ति, योग्य और आय भी देखता है। तात्पर्य यह कि लड़के के वे सारे गुण ढूँढ़े जाते हैं जिनसे वह कन्या को सुखी रख सके। उसके साथ संतान उत्पन्न कर सुख से गृहस्थ जीवन व्यतीत करे।

पिता द्वारा कन्या की सहमति भी ली जाती थी। यदि पिता उसकी पुत्री से विवाह की बात नहीं भी पूछे, माँ, भाभी, बड़ी बहन या सखियाँ लड़के के रूप-गुण का बखान कर लड़की की सहमति ले लेती थीं।

परंतु बेटी विवाह गीतों के अनुसार बेटी का पिता अपनी बेटी से मनोवांछित वर-गुण पूछ लेता है। बेटी कहती है—

'काला वर न ढूँढ़ो बाबा लोग डेराए जी,
गोरा वर न ढूँढ़ो बाबा धूपे कुम्हलाए जी,
सांवली सूरती बाबा मोरो मान भाए जी''

चित्रः मोती एवं सत्यनारायण कर्ण

चित्रः मोती एवं सत्यनारायण कर्ण

एक दूसरे गीत में पिता अपनी बेटी के लिए वर ढूँढ़ लाया है। पर वह स्वयं संतुष्ट नहीं है। वह कहता है—

पिता–'पूरब खोजली, बेटी पश्चिम खोजली
खोजी अईली मगह मुंगेर
तोहरा जुगुत बेटी वर नहीं मिलल
मिली गेल तपसी भिखार।''
बेटी–''तोरा लेखे आहो बाबा तपसी भिखारी
मोरा लेखे श्री भगवान हे।''

पिता-पुत्री के इस वार्तालाप में दोनों के मन के भाव प्रगट होते हैं। पिता को एहसास होता है कि वह अपने पुत्री के गुण-कर्म के अनुसार वह नहीं ढूँढ़ पाता है। इसलिए अपने द्वारा वर ढूँढ़ने की लम्बी प्रक्रिया का बखान कर सकता है ''तुम्हारे योग्य वर नहीं ढूँढ़ पाया।'' पिता अपनी बेटी के लिए वर ढूँढ़ना अपना कर्तव्य समझता है। पर अत्यंत परिश्रम से जो वर ढूँढ़ा है, उससे स्वयं संतुष्ट नहीं है। वह बेटी के आगे क्षमावंत है। पर बेटी तो व्यवहारकुशला है। पिता के मन को दु:खी नहीं करना चाहती। इसलिए कहती है—''आपके लिए यह तपस्वी और धनधीन होगा। मेरे लिए श्रीभगवान है।'' पुत्री के कथन के दो भाव हैं। एक पिता के परिश्रम को सम्मान देना। पिता का मन नहीं दुखाना। दूसरा अपने ऊपर विश्वास। कैसा भी वर होगा, बेटी उसे अपने अनुसार ढ़ाल लेगी। उसके साथ सुखी रहेगी।

परंतु दरवाजे पर बरात आने, मंडल पर कन्यादान होने, सात फेरे लगाने तथा सिन्दूरदान तक वर कन्या का परिचय नहीं होता। प्रथम परिचय तो कोहबर घर में ही होता है। इसे परिचय सत्र भी कहा जा सकता है।

चित्रः मोती एवं सत्यनारायण कर्ण

कोहबर घर की एक दीवार (पूरब या पश्चिम की दीवार) पर विशेष प्रकार की चित्रकारी होती है। एक विशेष माप के अनुसार चौड़ा कम, लम्बा ज्यादा स्थान रंगीन रेखाओं से घेरा जाता है। चारों ओर फूल पत्ती बनाई जाती है। बीच के भाग को दो भागों में बांटा जाता है। एक वर का दूसरा वधू का। ऊपर से नीचे तीन पुरइन पात (कमल के पत्ते) बनाए जाते हैं, वर की ओर दो पुरइन पात। उसके खानों को रंगों से रंगा जाता है। फूल पत्तियों के रस निकालकर ही रंग बनाए जाते थे। बाँस भी बनाया और रंगा जाता है। सफेद रंग चावल के घोल से बनता था।

जिस दीवार पर कोहबर लिखा जाता है, उसी स्थान पर नई चटाई, दरी मसनद लगाकर वर वधू को बैठाया जाता है। अकसर वह घर देवता घर ही होता है। अर्थात दोनों का एकांत मिलन भी देवता को साक्षी रखकर ही होना चाहिए। पति-पत्नी का संबंध आध्यात्मिक संबंध माना जाता है। मंडप पर विष्णु रूप में ही दुल्हा की पूजा होती है तथा हर दूल्हन की लक्ष्मी के रूप में पूजा अर्चना के बाद ही दोनों शारीरिक संबंध में बंधते हैं। तत्पश्चात् गृहस्थ जीवन। कोहबर लिखते समय भी गीत गाए जाते हैं। वर कन्या को वहाँ बैठाकर भी गीत। ये गीत विशेष अर्थ वाले होते हैं। ये संस्कार गीत हैं। इसलिए मनोरंजन के लिए नहीं है। इनके शब्दों से भले ही मनोरंजन होता हो, पर अर्थ गहरे हैं। एक गीत की पंक्तियाँ हैं—

''ताहि कोहबर सुतल दुल्हा कौन दुल्हा कहू बाबा के नाम,
बाबा जे हमरो पंडितवा दादी है पंडिताइन।
ताहि कोहबर सुतलन दुल्हिन सुहवे, कहू बाबा के नाम,
बाबा जे हमरे भंडुअवा दादा जंगली छीनाल॥''

यह गीत वर और वधू दोनों के घर गाया जाता है। दोनों जगह कोहबर लिखा जाता है। वर के यहां गीत गाया जाएगा तो वर अपने बाबा-दादी का परिचय पंडित-पंडिताइन के रूप में देता है और वधू के दादा-दादी को गाली दी जाती है। वधू के घर उसके आत्मजनों का परिचय उलटा होता है। पर अपने-अपने दादा-दादी, माँ-पिताश्री, भाभी भैया का दोनों परिचय देते हैं।

दूसरे एक गीत में कन्या, वर की योग्यता की परीक्षा लेती है। बुझौवल बुझाती है। वधू द्वारा पूछे चार बुझोवल वर बुझ जाता है। वधू प्रसन्न होकर कहती है—

''पहिले ते जनली हे प्राभु निपट गंवार
अब त जनलिअई हे प्राभु पढ़ल पंडित।''

अर्थात प्रश्न पूछ कर वधू, वर की योग्यता जांचती है। एक अंग्रेजी कहावत है—''बिल्ली पहली रात मारी जाती है।'' कोहबर घर में ही आने वाले वैवाहिक जीवन का वर्चस्व स्थापित हो जाता है।

कन्या कक्ष के लोग विवाह के उपरांत भी संशकित रहते हैं। दूल्हे को उनकी बेटी पसंद आई कि नहीं? इसलिए कोहबर घर में बेटी को भेजकर निश्चिंत नहीं होते। कोहबर घर से निकलने पर सुबह-सुबह वर-कन्या का मुख देखकर दोनों के मनोभाव का अंदाजा लगाते हैं। उन दोनों से पूछते भी हैं—'पसंद आया/आई?' वे दोनों शरमा भले ही जाते हैं। परंतु उनके घरवालों को उनकी पसंदगी-नापसंदगी का अंदाज लग जाता है। एक कोहबर गीत की पंक्तियाँ हैं—

बहन—''हमें नहीं जयबो भैया वही कोहबर
परपुत्र पढ़लक गारी।''
भाई-''परपुत्र-परपुत्र जनि बोलू बहिनी
परपुत्र होयत प्राण।''

कोहबर घर में दोनों सोए हैं। वर की कोई बात वधू को पसंद नहीं आती। वह उस कोहबर घर से बाहर निकलती है। बीच आंगन में भाई खड़ा है। उसके बाहर आने का कारण पूछता है। वधू कहती है कि ''उस परपुत्र'' ने मुझे गाली दी। मैं उस कोहबर घर में नहीं जाऊँगी।''

भाई समझाता है—''उसे परपुत्र मत कहो। वही तुम्हारा प्राण हो जाएगा। जाओ कोहबर घर में जाओ।'' तब दहेज प्रतिबंधन कानून की धारा 498 नहीं थी। भाई बहन को लेकर थाने या महिला आयोग नहीं जाता था। उसे समझा बुझाकर कोहबर घर में भेजता है और एक दूसरे को समझते हुए वही परपुत्र अपनी पत्नी का प्राण हो जाता है। दोनों का सुख-दुख एक हो जाता है। इसीलिए दांपत्य शब्द ही एकवचन है, जिसमें दो हैं। दोनों अभिन्न।

उसी कोहबर घर में दांपत्य की पहली रात को नोक-झोंक भी प्रारंभ हो जाती है। एक गीत के माध्यम से उस मनोभाव को व्यक्त किया जाता है—

''अलग सुतु बलग सुतु ससुर जी के बेटवा,
तोरे घासे चदरिया होत गलीन''
''यतना बचनिया जब सुनलन,
सुन्दर दुल्हा रूठी चलल विदेश।''
दुल्हा-''सब लागि लैबई घनि सर से संदेशवा
तोरा लागि लायब सौतिनिया।''
दुल्हन-''टूटी फूटी जायत प्राभु सर से संदेशवा
युगे-युगे जीए सौतिनिया''

दुल्हन दुल्हे से कहती है—''तुम्हारे पसीने से मेरी चादर गंदी हो जाएगी। तुम अलग होकर सोओ।'' दूल्हे को मंजूर नहीं है। वह रूठकर विदेश जाने लगता है। वह कहता है कि अपने घर के अन्य सदस्यों के लिए विदेश से विभिन्न चीजें उपहार में लाएगा। पर दुल्हन के लिए सौत ही उपहार में लाएगा। इतना सुनते ही दुल्हन डर जाती है। क्योंकि सौत तो टूटने-फूटने वाली नहीं। फिर तो दूल्हे को अपने पास सुला लेती है। चादर मैली होने का भय त्याग देती है।

ये सारे गीत प्रतीकात्मक हैं। नई-नई शादी हुई है। दोनों एक दूसरे मय होने जा रहे हैं। पर इस मधुर यात्रा की राहों पर कांटें भी होंगे। ये कोहबर गीत दोनों के मन का हुलास, आशंकाएं और संकल्प प्रगट करते हैं।

यह सच है कि विवाह संस्कार में समाज साक्षी होता है। दोनों परिवारों के सदस्य, रिश्तेदार, मित्रमंडली तथा ब्राह्मण मिलकर दोनों के विवाह के समय आशीर्वाद देते हैं। परंतु विवाह तो दोनों के एक होने का अनुष्ठान है। दोनों एक दूसरे के प्रति पूर्ण समर्पित होने का संकल्प उस कोहबर घर में लेते हैं। इसलिए कोहबर घर ''विशेष घर'' होता है। पवित्र स्थान, गृहदेवता जहां विराजमान हैं। वह दोनों के मनोरंजन का स्थान नहीं है। यौन संबंध के लिए भी नहीं। दोनों का प्रथम शारीरिक मिलन तो समाजहित में अनुष्ठान ही होता है। दरअसल हमारी संस्कृति में संतान उत्पन्न करना भी समाज के प्रति कर्तव्यपूर्ति ही माना गया है। पितृऋण है। इसलिए विवाह है। फिर विवाह हल्के मन से संपन्न नहीं हो सकता। कर्तव्य का संकल्प है। अधिकार मांगने का अवसर नहीं। कर्तव्य पालन से अधिकार तो मिल ही जाता है।

परंतु इस कोहबर घर का महत्व तब है जब लड़के-लड़कियाँ विवाह पूर्व आपस में मिले न हों। जब संग-संग घूमने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने के बाद विवाह हो तो परिचय घर का क्या महत्व। दरअसल अब विवाह के सभी रस्म ही बेमानी होते जा रहे हैं। सुहागरात का कमरा सजाया तो जाता है पर कोहबर नहीं लिखा जाता—

''कोहबर लिखली कौशल्या रानी
बड़ा अनुराग सयं हे।''

कोहबर लिखते समय मन में अनुराग ही रहता है। विवाह के समय जिस घर में कुलदेवता का पूजन तथा अन्य मांगलिक विधियाँ संपन्न हो जाती हैं, उसे 'कोहबर' कहते हैं। विवाह के बाद वर और कन्या का प्रथम मिलन इसी घर में होता है तथा यहीं उनका गठबंधन भी खोला जाता है। इस घर में दीवालों पर विधि-विधान तथा कुल-परम्परा के अनुरूप मयूर, चिड़िया, पालकी, बाँस का पेड़, हाथी, मौर, सिंधोरा, चन्द्रमा, सूर्य आदि के चित्र बनाये जाते हैं। यह एक प्रकार का देवतागृह कहा जा सकता है। यहां वर और कन्या से अनेक प्रकार की विधियाँ सम्पन्न कराई जाती हैं, दही-चीनी खिलाने का शगुन भी किया जाता है। कहीं-कहीं लड़की का जूठा दही लड़के को खिलाया जाता है। उसमें जाने से पूर्व साथ ही लड़कियाँ द्वार छेकती हैं। कोहबरगृह वर-कन्या दोनों पक्षों की ओर होता है।

कोहबर की प्रथा भोजपुरी, मगही, मैथिली, अंगिका, वज्जिका, अवधी तथा व्रज इन सभी भाषा के क्षेत्रों में प्रचलित है।

कोहबरघर की चित्रकारी लिखने का काम किसी सुहागन को सौंपा जाता है। कोहबर के गीत भी सुहागिन स्त्रियाँ ही गाती हैं। कोहबर की चित्र रचना में कुलप्रथा के अनुसार थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। इस विषय में एक गीत इस प्रकार है—

केकर कोहबर लहालही, केकर कोहबर लाल हे
केकर कोहबर कइसे उरेहल, एक चिरइयाँ दुई मोर हे॥

भोजपुरी का एक कोहबर गीत इस प्रकार है—

कहँवा के कोहबर लाल गुलाल कहँवा के कोहबर रतन जड़ाई।
बाहर के कोहबर लाल गुलाल भीतर के कोहबर रतन जड़ाई।

कुछ क्षेत्रों में कोहबर का चित्र गेरू से बनाया जाता है तो कहीं चावल-हल्दी के मिश्रण से। चारों कोनों और केन्द्र में स्वास्तिक का चित्र होता है।

कोहबर के गीतों में विशेष रूप से दूल्हे-दुल्हन के सोने पर किसी घटनाविशेष का वर्णन पाया जाता है। कहीं कोहबर में दूल्हे-दुल्हन सोये हुए हैं। सवेरा होने पर दुल्हन उठने लगती है तो दूल्हा पूछता है—तुम्हें सवेरा होने का पता कैसे चला? दुल्हन कहती है—डाल पर कौवे बोल रहे हैं, गायें दुहने के लिए घर-घर ले जाई जा रही हैं और सवेरा होने की सबसे बड़ी पहचान यह है कि भोर के प्रकाश में मेरी मांग के मोतियों की चमक फीकी हो गई है अथवा दीपक की लौ धूमिल हो गई है।

विवाह संस्कार का अंतिम पर महत्वपूर्ण रस्म है कोहबरघर। जिसकी स्मृतियाँ दोनों के मन पर जीवन भर छाई रहती है।

मृदुला सिन्हा
पी.टी-62/20, डी.डी. ब्लाक
कालकाजी, नई दिल्ली

'मंजूषा' अंग महाजनपद की लोककला

डॉ. अमरेन्द्र

'संस्कृति' के चार अध्याय में रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि 'हिन्द-चीन में समुद्र के किनारे चम्पा राज्य की स्थापना द्वितीय शती में हुई। यहाँ भी राज्य का चम्पा नाम इसलिए प्रचलित हुआ कि राज्य स्थापित करने वाले हिन्दू चम्पा (भागलपुर) से आये थे। इन सभी द्वीपों का नाम अंगद्वीप था।'

'चम्पा' अंग देश की राजधानी थी, जिस अंग की स्थापना बली के पुत्र 'अंग' ने अपने नाम पर की थी। अंग के इसी चक्रवर्ती राजा ने समस्त पृथ्वी को जीत कर अश्वमेघ यज्ञ किया था (ऐतरेय ब्राह्मण-39-8-21)। चम्पा यानी मौर्यकाल के सम्राट अशोक की माँ सुभद्रांगी की चम्पा, जैनियों के बारहवें तीर्थकर भगवान वासूपूज्य के जन्म और निर्माण की चम्पा, महाजनक नामक महानाविक की चम्पा। इसी चम्पा में छठी शती के आस-पास चन्द्रधर नाम का एक प्रसिद्ध सौदागर हो गया था। बाला लखेन्द्र उसी सौदागर का पुत्र था और बिहुला बाला लखेन्द्र की पत्नी, जिन्हें मनसा बहनों का शिकार होना पड़ा था, क्योंकि मनसा विषहरी के बहुत चाहने के बावजूद, शिव के अनन्य भक्त चंद्रधर ने मनसा को पूजा देने से इन्कार कर दिया था।

मनसा विषहरी

कथा है- शिव की मानस बेटियाँ (विषहरी, मैना, दिति, जया और पद्मा) यह देखकर अत्यन्त जलभुन उठीं कि धरती पर शिव-पार्वती से लेकर गणेश, कार्तिक तक की पूजा तो होती है, लेकिन मनसा (मानस पुत्रियों) की नहीं। दुखित हो मनसा ने यह व्यथा कथा जब शिव से सुनाई तो उन्होंने कहा-अगर धरती पर चम्पा देश का चन्द्रधर सौदागर उन्हें पूजा दे दे, तो मनसा भी धरती पर पूजनीय हो जायेंगी। फिर क्या था, मनसा बहनें सौदागर के पास पहँचीं। आने का उद्देश्य बताया, लेकिन चन्द्रधर तो शिव के अतिरिक्त किसी को भी पूजा देने के लिए तैयार नहीं था।

क्रोधित मनसा बदला लेने की भावना से भर गयी। और दंडित करने के ख्याल से मनसा ने चन्द्रधर के उन वोहितों (जहाजों) को समुद्र में डुबो दिया, जो व्यापार के लिए निकले थे। उन वोहितों के डुबने के साथ, चन्द्रधर के छः बेटे भी डूब कर मर गये। लेकिन तब भी चन्द्रधर सौदागर मनसा को पूजा देने के लिए तैयार नहीं था।

सातवें बेटे लखेन्द्र की शादी बिहुला से हुई। भय था कि विवाह की रात ही बाला (लखेन्द्र का लोकप्रचलित नाम) की मृत्यु साँप के डसने से हो जायेगी। इसीलिए सुरक्षा की जितनी भी व्यवस्थाएँ हो सकती थी, की गयीं। लोहे का घर बनाया गया। लेकिन सूत की मोटाई भर छेद छूट जाने के कारण, नाग का प्रवेश उस गृह में हो गया और लखेन्द्र को नाग ने डस लिया। चम्पा के महान धनोत्तर गुरु और केशो झारखण्डी के हजार उपचार भी लखेन्द्र को नहीं बचा पाये और बिहुला विधवा हो गई।

लेकिन चन्द्रधर सौदागर तब भी मनसा के सामने नहीं झुका। वह लखेन्द्र को गंगा में प्रवाहित कर देने का आदेश देता है, लेकिन बिहुला ऐसा नहीं होने देती। उसके आग्रह पर कई मंजिलों वाली विशाल नौका बनवाई जाती है। ऐसी नौका बनाते है देवताओं के कर्मकार भगवान विश्वकर्मा।

अंगप्रदेश की अतिप्रसिद्ध लोककला मंजूषा, कई मंजिलों वाली नाव पर विशेष कर टिकी है। यह नाव कुछ इस तरह से बनाई गई थी,

मनसा बहनें (जया, पद्मा, विषहरी, मैना, दिति)

जैसे किसी भव्य महल का लघु रूप हो। इस मंजूषा में वे सारी प्रमुख चीजें रखी गई थीं, जो बाला और बिहुला के जीवन से जुड़ी थी। मंजुषा की दीवारों पर लहसन माली ने उन चित्रों को कलात्मकता के साथ उभारा था, जो बाला-बिहुला के जीवन से जुड़ी घटनाओं को व्यंजित करते थे।

यह बात आज से पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व की है जिसे आज भी अंगप्रदेश में मंजूषा कला के नाम से स्मृत किया जाता है। दिन होता है 16 और 17 अगस्त (सावन या भाद्र मास का सिंह नक्षत्र),दिन दुर्भेद्य के लोहगृह में प्रवेश कर, नाग ने लखेन्द्र का दंशन किया था।

लोकविश्वास यह भी है कि अंगप्रदेश में आज जिस रूप में मंजूषा निर्मित होता है, वह वैसा ही है, जैसा विश्वकर्मा ने बनाया था। प्रत्येक वर्ष, सिंह नक्षत्र के प्रवेश के पन्द्रह बीस रोज पूर्व से ही मंजूषा का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है, जो स्थापत्य और लोकचित्रकला की दृष्टि से अद्‌भुत होता है।

मंजूषा कला कागज की भित्ति से बने मंजूषा पर रची गई विशिष्ट चित्रशैली है, जो सनई की लकड़ी और शोला से खड़ी होती है। मंजूषा चतुष्कोणीय संरचना पर ही खड़ा किया जाता है, लोकिन विशिष्ट प्रकार से बनाये गये मंजूषा की संरचना भी भिन्न होती है, इस प्रकार का मंजूषा षटकोणीय होता है और चार खूंटे की जगह, भार के अनुकूल आठ खूंटे (पद) पर खड़ा होता है। विशेष प्रकार के मंजूषा पर कई कंगूरे का भी निर्माण बड़ी कलात्मकता के साथ किया जाता है। मंजूषा सामान्य हो या विशिष्ट, इसकी भित्तियों पर बाला-विषहरी की कथा से जुड़े विविध प्रसंगो और पात्रों को परम्परागत रंगों से उभारा जाता है, जिसमें चम्पा नगरी के चम्पक पुष्प और पत्ते के अतिरिक्त नाग, पाँच बहन विषहरी, चन्द्रधर सौदागर, बाला लखेन्द्र, गंगा का प्रतीक मगरमच्छ, चाँद, सूरज आदि प्रमुख होते है। इन चित्रों में जहाँ बिहुला को दर्शाने के लिए उसके खुले केश और समीप ही नाग को बनाया जाता है, वही पाँचों बहन विषहरी की भिन्नता के लिए उनके हाथों में विभिन्न प्रतीक के चिन्ह दिए जाते हैं। सच पूछिए तो यह मंजूषा कला प्रकारान्तर से प्रतीक कला ही है, जो मुख्य रूप से नीले, पीले, गुलाबी रंगों के सहारे उभारी जाती है।

मंजूषा कला में चम्पा वृक्ष की पत्तियों और सर्पो से बनी जंजीर के बार्डर प्रमुख स्थान रखते हैं। 'प्लुत' (S) या अंग्रेजी के S वर्ण के आकार में रेखाएँ इस तरह गुँथी रहती हैं कि ये सामान्य जंजीर का भले बोध कराती हों, लेकिन वास्तव में ये रेखाएँ सर्पों को ही जोड़ कर बनाई गई जंजीर है, कूची के रखने के साथ ही सर्प के फन का स्वाभाविक रूप से रूप खड़ा हो जाता है। इसकी ओर विद्धानों का कम ही ध्यान गया है।

यह कहा नहीं जा सकता है कि अंग जनपद में नाग-पूजा या नाग-अलंकरण कब प्ररम्भ हुआ। संभवत: इसका आरम्भ इस प्रदेश में सिन्धु-सभ्यता के पूर्व ही हो चुका था। 1970-71 में पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग द्वारा डॉ. बी. पी. सिन्हा के निर्देशन में जब चम्पा (भागलपुर) के कर्णगढ़ (ढूह) की खुदाई हुई, तब उसमें कई पुरावशेषों के साथ नाग-नागिन की खूबसूरत जोड़ी भी मिली- जिसके मस्तक मानव के हैं। इतिहासकारों ने खुदाई की मिट्‌टी की परतों से यह बताया है कि यह सभ्यता सिंधुकालीन है। खुदाई में

चंद्रधर सौदागर

लौहगृह की रक्षा में लगाये गये अश्व, गज

टेराकोटा की मिली यह नागकला स्पष्ट करती है कि अंगप्रदेश में तब भी नागपूजा चरम सीमा पर थी।

मंजूषा लोककला में जो मानव की आकृतियाँ बनती हैं, वह बहुत कुछ अंग्रेजी के वर्ण X जैसी होती हैं। पुरुष और स्त्री के चित्र दर्शाने के लिए चित्रों में जहाँ एक ओर शिखा और मूँछ के अंकन की परम्परा है, वहीं स्त्री की आकृति के लिए वक्ष पर दो वृत्तों के बीच बिन्दुओं को बनाया जाता है। वैसे, जो पुरुष आकृति होती है, उसकी गर्दन स्त्री की आकृति से थोड़ी अवश्य मोटी होती है। जहाँ ये आकृतियाँ एक ओर कानविहीन होती हैं, वही दूसरी ओर इनकी आँखें अनुपात की दृष्टि से बड़ी हैं, जो आकृतियों को भव्यता देती हैं। यहाँ यह विशेष रूप से बताना जरूरी होगा कि मंजूषा पर जो पंचमुखी नाग का अंकन होता है, वह, मनसा (पाँच बहनों) का ही प्रतीक है, जिसके साथ एक पतली रेखा में नाग की भी अंकन कर दिया जाता है। इन बातों के अतिरिक्त, यह भी लगता है कि मंजूषा पर जो सूर्य और चाँद के चित्र उभारे जाते हैं, वे कहीं-न-कहीं साम्प्रदायिक सदभाव के ही चिन्ह हैं। इतिहासकार ज्योतिष चन्द्र शर्मा ने अपने इतिहास ग्रन्थ प्राचीन चम्पा में अंगिका भाषा की लोकगाथा बिहुला और कई इतिहास साक्ष्य के आधार पर इस ओर संकेत किया है कि चन्द्रधर सौदागर ने लखेन्द्र की शादी पर मुहम्मद साहब की बेटी फातिमा को भी निमंत्रित किया था और बीबी फातिमा ने अपने पुत्रों को विवाह के उत्सव में शामिल होने के लिए भेजा था। अगर यह बात पूरी तरह से इतिहास में सिद्ध हो जाती है, तो मंजूषा पर बने चाँद के चित्र का सत्य भी उजागर हो जायेगा और यह भी कि चन्द्रधर सौदागर का समय क्या रहा होगा।

आधुनिक समय में इस मंजूषा कला की खोज सर्वप्रथम 1941 में आई. सी. एस. पदाधिकारी डब्ल्यू जी, आर्चर ने की थी और इसे एक राष्ट्रीय धरोहर के रूप में पहचान दी। उन्होंने अंगप्रदेश के माली परिवारों द्वारा बनाये जाने वाले मंजूषा चित्रों को उसी काल में लन्दन के इण्डिया हाऊस में भी प्रस्तुत किया था। नये समय में जुड़ाव, परिधि,

चंद्रधर की पत्नी सोनिका सछुआइन

अर्णव, नवार्ड जैसी संस्थाओं ने इसे विश्वधरोहर के रूप में पहचान देने की सार्थक पहल की है जिनमें ज्योतिष शर्मा, शेखर, मनोज पाण्डेय, अपर्णा सिंह, ओमप्रकाश पाण्डेय, राजीव सिन्हा की भूमिकाएँ निस्संदेह कालजयी हैं।

डॉ. अमरेन्द्र
लाल खां दरगाह लेन, सराय,
भागलपुर-812002 (बिहार)
दूरभाष-0641-2620067

भारत और जापान के सांस्कृतिक संबंध: तब और अब

डा० उनीता सच्चिदानन्द

भारत-जापान के सांस्कृतिक संबंध सदियों पुराने हैं। हालांकि दोनों देशों के बीच सीधा संबंध तो 16वीं शताब्दी तक न के बराबर ही रहा। जब बौद्ध धर्म चीन एवं कोरिया के माध्यम से जापान पहुंचा तो अपने साथ भारतीय तत्व एवं भारतीय दर्शन थी साथ लेता गया, जैसे जातक कथाएं, पाली, प्राकृत एवं संस्कृत भाषा। भारतीय कला के विविध प्रारूप तो गए ही, इन सभी तत्वों ने जापानी कला एवं साहित्य को प्रभावित किया। हाजिमे नाकामुरा के अनुसार जापानी संस्कृति में अगर भारतीयता का असर न होता तो जापान की संस्कृति वह न होती जो आज है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान दो देशों के बीच पारस्परिक प्रेम, बंधुता बढ़ाने में ठोस भूमिका निभाता है। आज के समाज में जहां अनेकों विषमताएं एवं उलझनें, आतंकवाद के ज़हर से दहलते मानव-समाज में उत्पीड़नाएं पनप रही हों तो तब और भी जरूरी हो जाता है कि सांस्कृतिक लेन-देन बढ़ें और एक दूसरे की बिगड़ी छवि को सुधारें।

जापान-एवं भारत के बीच 29 अक्तूबर, 1956 में सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुए। भारत-जापान के ऐतिहासिक संबंधों की जानकारी सभी को है, किन्तु साहित्यिक आदान-प्रदान के विषय में हम अधिक नहीं जानते। भारतीयों की रूचि शुरू से ही यूरोप के साहित्य को जानने-समझने में रही। हालांकि आजादी के उपरान्त दक्षिण अमेरिका, रूसी साहित्य के प्रति भी रूझान बढ़ा किन्तु जापानी साहित्य को जानने की इच्छा होते हुए भी अनभिज्ञ रहे। दूसरी ओर ऐतिहासिक जापान में बौद्धधर्म के तहत् हिन्दुस्तान का साहित्य भी पहुंचा। उनके पौराणिक साहित्य जैसे कोन्जाकुमोनोगातारी (जातक कथाएं) को ही लिया जाए तो भारत की छाप साफ झलकती है।

मान्योशू (पौराणिक कविता-संग्रह), गेन्जीमोनोगातारी)(गेन्जी की कहानी), ताकेतोरी मोनोगातारी (बांस से निकली परी की कहानी), ऐसे कई साहित्यिक संकलन हैं जो भारत-जापान के सदियों पुराने साहित्यक विनिमय को उजागर कहते हैं। प्रस्तुत लेख जापानी में भारत की छवि एवं हिन्दी साहित्य के अध्ययन पर रोशनी डालता है साथ में भारत में जापानी साहित्य पर अभी हाल ही में की गई कोशिशों को उजागर करता है।

जापान में भारत की छवि

बहुत समय तक इतिहास के पन्नों एवं जापानी मानस पटल पर भारत एक ऐसा देश था जहां जाना दुर्लभ था। भगवान बुद्ध का देश-तेन्जिकु (स्वर्गलोक), ऐसा देश जहां न तो सीधा संपर्क कायम हो सकता था न कोई सूचना माध्यम ही था। फिर समय आया 16वीं शताब्दी का जब भारत से सीधे संपर्क कायम हो सकते थे। कई साहसी सौदागरों ने भारत में अपने पैर टिकाने की कोशिशें की पर सब नाकामयाब।

उसके बाद जापान ने दो सौ साल से भी अधिक समय के लिए बाहरी देशों के प्रति अपने दरवाजे बंद कर दिए। भारत से सीधे संपर्क न होकर चीन एवं डच के द्वारा ही संभव हो पाया। जिसकी वजह से भारत की छवि एक 'दक्षिण असभ्य जाति' के रूप में पेश हुई।

मेइजी शासन काल (1868-1912) के दौरान भारत की पहचान एक 'पिछड़ा-उपनिवेशित-एशियाई' देश के रूप में हुई। जापान ने बाहरी मुल्कों के लिए दरवाजे खोले तो जरूर किन्तु जापान को हरेक दृष्टि से समृद्ध बनाने की होड़ में उन्होंने भारत के बजाय यूरोप की ओर देखना उचित समझा। फुकुजावा युकिचि (1834-1901) जो आधुनिकीकरण के अनुयायी थे, ने जापान को एशियाईपने को छोड़ देने की सलाह दी। किन्तु 20वीं सदी की शुरूआत में ओकाकुरा तेनशिन (1862-1913) ने एशिया को संगठित होने की बात पर जोर दिया। ओकाकुरा तेनशिन भारतीय कला एवं संस्कृति के प्रेमी तो थे ही रवीन्द्रनाथ टैगोर के पसंदीदा मित्र भी थे।

भारत-जापान के सांस्कृतिक इतिहास में नए आयाम जोड़ने के रूप में रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं ओकाकुरा तेनशिन के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

अपनी तीन बार जापान यात्रा के दौरान एक बार जापानियों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था, ''यद्यपि भारत गरीब देश है, पर

आप हमारा तिरस्कार न करें। भारत में प्राचीन आध्यात्मिक बुद्धि और उदार प्रकाश है। आपको उस सम्पदा की खोज करनी होगी। उसके लिए आप खुशी से भारत में आ सकते हैं, जिसमें आप अपना उचित स्थान पाएंगे। आपने अपनी कला, साहित्य और दर्शन में जो गुण पाए हैं, उनका हमें परिचय कराइये।'' (महेन्द्र साइजी माकिनो, शान्तिनिकेतन और जापानी परंपरा सम्मेलन स्मारिका, तोक्यो युनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज, पे०111)।

ओकाकुरा तेनशिन एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बौद्ध धर्म का पुनरूत्थान करवाया और यही वजह है कि करीबन पांच-छ: सालों के बाद जापानी साहित्य में एक बार फिर भारत की छवि को भी बौद्ध-धर्म के माध्यम से पुनर्जीवन मिला। इस सिलसिले में मोरी ओगाई (1862-1922) की रचनाएं विशेष स्थान रखती हैं। एक बार, यह सिलसिला शुरू हुआ नहीं कि फिर तो जापानी साहित्यकारों ने भारतीय संस्कृति एवं बौद्ध-धर्म को अपने साहित्य में जगह देकर अपने समाज में मानवीयता की गिरावट में सुधार किया। इस दृष्टि से आकुतागावा र्यूनोसुके (1892-1927) की 'राशोमोन' एवं 'कुमो तो इतो' नामक रचनाएं अच्छे उदाहरण हैं। योकोमित्सु रीइचि (1898-1947) ने अपने राजनैतिक उपन्यास 'सांघाई' (1925) में एशियाईवाद को अपना विषयवस्तु बनाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं आजादी के संघर्ष के तहत् पं० जवाहरलाल नेहरू की राजनैतिक दूरदर्शिता पर रोशनी डालते हुए जापान-केन्द्रित एशियावाद को नकारा और भविष्य में भारत एशियाई अगुवाई की ओर अग्रसित होगा, इशारा किया।

दिल्ली में आयोजित प्रथम भारत-जापान साहित्य सम्मेलन, 2002

भारत और जापान का आकर्षण युद्ध उपरान्त सन् 1952 में एक बार फिर देखा जा सकता है। जब पं० नेहरू ने अपनी शानदार गैर-संगठित (नॉन एलाइनमेन्ट) नीति अपनाकर जापान से अलग से शांति अनुबंध स्थापित किया। इससे पहले महात्मा गाँधी का आजादी की लड़ाई में अहिंसानीति को अपनाने, को जापान ने बखूबी सराहा। इस तरह पं० नेहरू एवं महात्मा गांधी ने एशियाई नेता के रूप में जापानियों के दिलो दिमाग पर गहरी छाप छोड़ी किन्तु भारतीय एशियाई नेता जैसी छवि भी अधिक दिन न टिक सकी। भारत का चीन के साथ युद्ध में हारना (1962), पं० नेहरू का देहान्त, उसके बाद लगातार आर्थिक संकट, गरीबी, भुखमरी ने एक गरीब अविकसित, कमजोर भारत की छवि को उभारा। हालांकि जापान भी कुछ वर्ष पहले इसी दौर से गुजरा था किन्तु गरीबी, भुखमरी, अकाल ने भारत को देखने की जापान की दृष्टि को पूरा ही बदल डाला।

... जीवन-मृत्यु दोनों का एक साथ गरीबी में प्लावित हो एक साथ डुबकी लगाना, गरीबी, दुर्गति ने जापानियों को इतना प्रभावित किया कि भारत की सकारात्मक छवि को धूमिल होते देर न लगी। (सुशिमा यूको, जापानी लेखिका) इतना ही नहीं 'एशियाई नेता' के रूप में उभरे भारत को अणु-शक्ति, धर्म एवं जाति की लड़ाइयों ने 'हिन्दू राष्ट्रीय आंदोलनकारी' के रूप में ला खड़ा किया। फलस्वरूप अहिंसा, शांति, मोक्ष-प्रबोधन, बुद्धा, गाँधी नेहरू एवं उनके पंचशील की खूबसूरत तस्वीर को बिगड़ते देर न लगी। हालांकि बुद्धा का आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक देश जैसी प्रतिमा जापानियों के दिलोदिमाग पर हमेशा कायम रही।

सन् 1960 एवं 1970 के आस-पास जब जापान की आर्थिक हालत सुधरी और धनी मध्यवर्गीय जापानी वर्ग उभरा और भौतिकवादी समृद्धि से आतंकित हो जापानी भारत की ओर आकृष्ट हुए। आज भी भारत उनके लिए आध्यात्मिक एवं आत्मीयता की खोज है। यहां कोई मोक्ष प्राप्ति के लिए आता है तो कोई अभौतिकता का सुख भोगने।

आधुनिक जापानी साहित्य में भी कई श्रेष्ठ रचनाकारों ने गंगा एवं मणिकर्णिका घाट के इर्द-गिर्द पनप रही हिन्दू आध्यात्मिकता, जन्म-मरण एवं पुनर्जन्म की दार्शनिकता, बनारस के घाट को अपनी विषयवस्तु बनाया। मिशिमा युकियो (1925-70) का 'आकात्सुकी नो तेरा' एवं एन्दोशूसाकू (1923-96) की 'फुकाई कावा' जैसी रचनाएं इस विषय से संबंधित सटीक उदाहरण हैं। हालांकि कई अन्य लेखक जैसे त्सुशिमा यूको एवं कावामुरा मिनातो का कहना है कि भारत

की असली तसवीर जापान तक नहीं पहुंचती। चाहे वह साहित्य हो या लोग-बाग या आम आदमी। त्सुशिमा यूको कहती हैं : ''भारत एक विशाल देश है। हमें उनके पौराणिक, एतिहासिक संप्रदा में तो रूचि है ही लेकिन हम एक आम आदमी यानि मध्यवर्गीय, आधुनिक भारत के बारे में जानना चाहते हैं। जापान में भारतीय साहित्य अंग्रेजी के माध्यम से आता है या अप्रवासी भारतीय द्वारा लिखा हुआ होता है। इससे हम भारत के वास्तविक समाज को देखने से वंचित रह जाते हैं। जापानी पर्यटक भारत जाकर उसकी गरीबी भुखमरी की या ऊपरी तस्वीर देखकर आते हैं और वही पर्यटक किताबों में लिखते हैं। हमें पर्यटक की छवि कतई नहीं चाहिए'' इस तरह आज का जापान का लेखक एवं नागरिक भारत की असली तस्वीर चाहता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय जनमानस या लेखक जापान के बारे में जानना चाहता है, जापान के करीब आना चाहता है, किस प्रकार, यह राजेन्द्र यादव 2002 में हुई भारत-जापान साहित्य पर हुई संगोष्ठी के दौरान बताते हैं :

''हमारे यहां जापानी साहित्य का परिचय अज्ञेय के माध्यम से हुआ था। मुझे याद है जब उन्होंने वाक नाम की पत्रिका अंग्रेजी में निकाली थी तो उसमें उन्होंने सुन्दर लघु उपन्यास अनुवाद करवाया था। दुर्भाग्य था कि वो भी अंग्रेजी में था। खैर मैं इस संदर्भ में ज्यादा कहने का अधिकारी नहीं हूँ पर यह आग्रह जरूरत करूंगा कि जब हमें सामग्री मिले वह सीधे मिले। इसमें एक मध्यस्थ यानि अंग्रेजी न हो तो अच्छा है। इससे हमारा जापानी समाज से, साहित्य से सीधे परिचय होगा। क्योंकि हमारी और उनकी सेन्सिबिलिटीज एक जैसी हैं। उसके भीतर जाने के लिए हमें छलांग नहीं लगानी पड़ेगी। जैसे मैंने कहा कि पश्चिमी साहित्य में छलांग लगाकर हमें ऐसे क्षेत्र में जाना पड़ता है जो हमारा नहीं है। जापानी साहित्य हमारा विस्तार जैसा लगता है। उसे समझना हमारे लिए आसान है।''

जापानी में हिन्दी भाषा एवं साहित्य

सन् 1908 में तोक्यो विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय में ''हिन्दुस्तानी'' भाषा के रूप में हिन्दी-उर्दू के शिक्षण की शुरूआत हुई। इस तरह यह वर्ष जापान में हिन्दी-उर्दू शिक्षण का शताब्दी वर्ष है। किन्तु हिन्दी के विधिवत् रूप से शिक्षण की व्यवस्था सन् 1911 में हुई। इसके एक दशक बाद सन् 1921 में ओसाका में विदेशी भाषा संस्थान की भी स्थापना हुई। इन दो संस्थानों ने जापान में हिन्दी भाषा व साहित्य के अध्ययन और विकास की नींव रखी। जापान में प्रथम पीढ़ी के हिन्दी प्राध्यापकों और शोधकर्ताओं में रेइचि गामो (1901-1977) और एइजो सावा अगुवा रहे। गामो तोक्यो विश्वविद्यालय और सावा ओसाका से सम्बद्ध थे।

हिन्दुस्तानी भाषा और समाज के स्वरूप को समझने के साथ जापानी छात्रों को हिन्दुस्तानी पढ़ाने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम और अध्ययन सामग्री तैयार करने में प्रो० सावा का आरम्भिक प्रयास काफी प्रबल रहा। इन्हीं दिनों 'इन्दोयो' पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ जो आगे चलकर हिन्दी, भाषा साहित्य और समाज पर विचार-विमर्श का मंच बनी। 1929 ई० में सावा जी ने हिन्दुस्तानी और फारसी साहित्यकारों की जीवनी पर धारावाहिक आलेखों का प्रकाशन प्रारम्भ किया। जापान में प्रकाशित उर्दू व्याकरण की पहली पुस्तक तैयार करने का श्रेय सावा जी को जाता है। सादी की 'गुलिस्तान' और प्रेमचंद की 'कफन' का जापानी अनुवाद भी इन्होंने प्रकाशित किया।

1938 ई० में प्रो. गामो रेइचि ने 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' की रचना की। जापान में हिन्दी के पहले शिक्षक के रूप में गामो जी ने प्रो० सावा की तरह हिन्दुस्तानी के भाषाई स्वरूप पर लगातार शोध किया तथा जापानी और हिन्दुस्तानी के तुलनात्मक अध्ययन में अपना बहुमूल्य समय लगाया। प्रेमचंद की 'गोदान' की पहली जापानी पाण्डुलिपि आज भी 'गामो बुन्को' के रूप में तोक्यो विश्वविद्यालय में सुरक्षित है।

1952 में भारत और जापान के बीच राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुए। श्री के. दोई (1916-1983) हिन्दी भाषा के पहले जापानी छात्र के रूप में इलाहाबाद विश्वविद्यालय पहुंचे और 1953 से विधिवत हिन्दी भाषा और साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हिन्दी के पहले प्राध्यापक के रूप में आप तोक्यो विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हुए जहाँ आपने हिन्दी भाषा व साहित्य के अध्ययन में रेइचि गामो जी के साथ अपना बहुमूल्य योगदान दिया। आपकी रचनाएँ 'हिन्दी का परिचय' और 'जापानी-हिन्दी शब्दकोश' ने जापान में हिन्दी के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। 'गोदान' के अलावा दोई जी ने प्रेमचंद की कहानियों के एक संग्रह का जापानी में सफल अनुवाद किया, जिससे प्रेरित होकर कई जापानी अनुवादकों ने प्रेमचंद की लगभग सभी उल्लेखनीय कृतियों का अनुवाद 1960 की दशक में ही कर डाला। 'अंक' तथा 'इंदोबुन्गाकु' पत्रिकाओं का प्रकाशन भी इसी दौरान शुरू हुआ।

1960 तक जापान में हिन्दी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का दौर रहा। हिन्दी साहित्य के अध्ययन व शोध की दिशा में महत्वपूर्ण कदम 60 के दशक में उठाए गए। 1954 में जापानी में भारतीय साहित्य का

पहला संग्रह छपा। बाद में 1967 में 'भारतीय साहित्य का ऐतिहासिक सर्वेक्षण' ओतोया तानाका और तेइजी साकाता की सांझी कोशिश के फलस्वरूप प्रकाशित हुआ। हिन्दी साहित्य की उत्कृष्ट कृतियों का धड़ल्ले से जापानी अनुवाद होने लगा। स्वभाविक भी था क्योंकि अब पहली पीढ़ी ने जापान में हिन्दी जानकारों की अच्छी तादाद तैयार कर दी थी। लगभग 35 से अधिक अनुवाद जापानी में उपलब्ध कराए गए। कुल मिलाकर अगर यह कहा जाए कि हिन्दी भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में जापान में लगभग क्रांति ही आ गई तो गलत न होगा। प्रेमचंद के अलावा निराला, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, दिनकर, और अज्ञेय के काव्य और हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचनाओं आदि को जापानी पाठकों ने विशेष रूप से सराहा।

इसी दशक में गामा, सावा और दोई द्वारा हिन्दी साहित्य की परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए इनके प्रतिभाशाली छात्रों की एक जबरदस्त टोली का उदय हुआ। द्वितीय पीढ़ी के हिन्दी प्राध्यापकों के रूप में ताना का तोशियो, सुजुकि योशिआकि इशिदा यासुनी, कोगा कात्सुरो तेइजी साकाता, तोमिओ मिजोकामी, नारा ताकेशि और नागा कोकि का पदार्पण हुआ। हिन्दी साहित्य के बहुमुखी आयाम आधुनिक साहित्य के अलावा इस पीढ़ी का रूझान मध्यकालीन समाज, रीति रिवाज़, धर्म, लोक-कथा, महिला और क्रांतिकारी साहित्य की ओर भी बढ़ा। तुलसी, सूर, मीरा और कबीर, भारतेन्दु, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, ज्ञानेन्द्र कुमार, मोहन राकेश, हजारी प्रसाद द्विवेदी, यशपाल, भीष्म साहनी, बच्चन, रघुवीर सहाय और काशीनाथ सिंह आदि रचनाओं पर शोध, समीक्षा और अनुवाद पाठकों तक पहुँचने लगे। हिन्दी से जापानी में अनुवाद की समस्याओं पर मिजोकामि के विचार प्रस्तुत हुए। तेइजी साकाता ने अपने अभूतपूर्व प्रयास के द्वारा प्रादेशिक लोक-कथाओं का संग्रह जापानी व हिन्दी में प्रकाशित किया। ऐसी ही कोशिश कोगाजी ने भी की। मिजेकामी ने हिन्दी, पंजाबी, एवं बांगला के प्रसार के लिए चलचित्र और नाटक का सहारा लिया।

तोशियो तानाका जी ने हजारी प्रसाद द्विवेदी की जीवनी एवं साहित्य पर व्यापक समीक्षा के अलावा भारतीय रीति-रिवाजों, धर्म और साहित्य के आपसी ताने-बाने को समझने का प्रयास किया। तानाकाजी का हिन्दी भाषा और साहित्य का सफर 1960 के पूर्वार्द्ध में आरम्भ हुआ। आपने अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' (1971), शेखर एक जीवनी, यशपाल और उग्र के साहित्य के अलावा भीष्म साहनी के 'तमस' का जापानी अनुवाद भी किया। राहुल सांस्कृत्यायन की कृतियों पर आपने व्यापक शोध किया है। दूसरी पीढ़ी के प्रमुख हिन्दी प्रणेताओं में आपका एक महत्वपूर्ण स्थान है। सुजुकि वोशियाकि ने हिन्दी साहित्य की नई परम्परा की खोज में अपनी दिलचस्पी दिखाई और 'ज्वालामुखी' पत्रिका का विधिवत् सम्पादन भी किया। कोगा जी जापानी हिन्दी शब्दकोश की रचना में तल्लीन हो गए। 1996 ई. में प्रकाशित यह शब्दकोश भारत की सम्मिलित सांस्कृतिक परम्परा का द्योतक है, जिसमें जहाँ हिन्दुस्तानी के प्रादेशिक पक्ष का ख्याल रखा गया है वहीं बोलियों के पर्यायवाची शब्द, लोकोक्तियाँ, पहेलियां एवं मुहावरों को भी यथोचित् स्थान मिला है।

1980 ई० के बाद तीसरी पीढ़ी के हिन्दी प्राध्यापकों और शोधकर्ताओं, में ताइगेन हाशिमोतो, आकिरा ताकाहाशी, इशिदा हिदेआकी, माचिदा काजुहिको, मिजुनो जूइचि, और शिगेओ आराकी उल्लेखनीय हैं। ताइगेन जी ने मध्यकालीन भारतीय दर्शन व साहित्य में रूचि दिखाते हुए कबीर के बीजक का अनुवाद जापानी में प्रकाशित किया। आपने मन्नू-भण्डारी की 'आपका बंटी' का जापानी अनुवाद अपने छात्रों के साथ सम्पन्न किया। जहाँ ताकाहाशि ने भारतीय अप्रवासी और समकालीन भारतीय अंग्रेजी साहित्य को अपने शोध का विषय-वस्तु बनाया है वहीं माचिदा काजुहिको ने हिन्दी के विकास के लिए कम्प्यूटर के महत्व को अपने शोधकार्य का विषय बनाया।

दलित साहित्य को अपने शोधकार्य का विषय बनाया इशिदा हिदेआकी ने जो तोक्यो के तीसरे विश्वविद्यालय दाइतो बुन्का विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। आपने हाल ही में हिन्दी में जापान की युद्ध संबंधित कविताओं का अनुवाद प्रकाशित किया। आप 'जापान सोसाइटी फॉर हिन्दी लिटरेचर' के संस्थापक सदस्य हैं और 'हिन्दी लिटरेचर' नामक एक पत्रिका भी संपादित करते हैं।

तोयो विश्वविद्यालय के ताइगेन हाशीमोतो और हिसायोशी मियामोतो ने मिलकर हिन्दू दर्शन शास्त्र पर एक एन्साइक्लोपीडिया का प्रकाशन किया। ज्ञात हुआ कि हिन्दी नाटक में सक्रिय तोमियो मिज़ोकामी ने हिन्दी सिनेमा के गीतों का जापानी अनुवाद प्रकाशित किया।

भारत-जापान साहित्यिक संबंध : कुछ नई कोशिशे

जापान और भारत के बीच आर्थिक संबंध पिछले दो दशक में काफ़ी गहरे हुए हैं लेकिन सांस्कृतिक रूप से भारत का जापान की ओर बढ़ता रूझान, ख़ासतौर पर साहित्य के संदर्भ में एक नई शुरूआत है। पिछले पांच सालों में जापानी साहित्य की कई प्रतिनिधि रचनाओं का अनुवाद हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में सीधा मूल जापानी से

सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। 2002 में भारत और जापान के राजनयिक संबंधों की पचासवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में पहली भारत-जापान साहित्य संगोष्ठी का आयोजन किया गया। अपने उद्घाटन अभिभाषण में प्रो० नामवर सिंह ने कहा कि जापानी काव्यविद्या वृहत् है और आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी साहित्य जापान के समकालीन काव्य-रस से परिचित हो। प्रो० केदारनाथ सिंह ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा, ''हम यूरोप का साहित्यिक सौन्दर्यवाद कैसे विकसित हुआ जानते हैं, किन्तु दुर्भाग्य है कि हमारे पड़ोस में चीन है, जापान है। इनका साहित्य क्या है ? परखने के मूल्य क्या हैं ? हमने इस ओर पहल नहीं की। मैं आशा रखता हूं कि जो भारत और जापान में अध्ययन केन्द्र है, उनके संयुक्त तत्वावधान में या उनके जरिये साहित्यिक आदान-प्रदान कर सकें, अनुवादों के जरिये या फिर किसी और तरह... यह एक

2005 में साहित्य अकादमी और भारत-जापान साहित्य और संस्कृति संघ का जापानी साहित्य पर अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन का उद्घाटन समारोह

कवि की पीड़ा है उनके साहित्य को जानने की, उनकी संस्कृति को जानने की तड़प है।''

अशोक वाजपेयी जी के अनुसार हम साहित्य द्वारा युद्धों की पीड़ा, मानव-पीड़ा कम कर सकते हैं। जापानी और भारतीय लेखक की परिकल्पना, सोच एक जैसी है। साहित्य के अनुवाद द्वारा हम एक दूसरे के नजदीक आ सकते हैं। इस तरह सुश्री इंदिरा गोस्वामी, श्री विनोद भारद्वाज, सुश्री मृदुला गर्ग, श्री राजेन्द्र यादव, सुश्री चित्रा मुद्गल, प्रो० गंगा प्रसाद विमल, और श्री सुरेश सलिल ने विभिन्न सत्रों के दौरान अपने अध्यक्षीय भाषण में समकालीन जापानी कविताओं के हिन्दी काव्यांतरण की आवश्यकता पर बल देते हुए यह आशा व्यक्त की हमें अंग्रेजी अनुवादों का सहारा लिए बिना सीधा जापानी से विभिन्न भारतीय भाषाओं में काव्यांतरण करने की चेष्टा करनी चाहिए। प्रबुद्ध साहित्यकारों और समीकक्षों की इस अनुशंसा से प्रेरित हो जापानी काव्य साहित्य के हिन्दी अनुवाद की दिशा में कुछ गतिविधियाँ 2002 के पश्चात् शुरू हुई।

अप्रैल 2005 में भारत के प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह और जापान के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जुनइचिरों कोइजुमी ने भारत-जापान संबंधों को और अधिक व्यापकता प्रदान करते हुए आठ-सूत्री सहयोग समझौते की अनुशंसा की। इसके अन्तर्गत दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक और शैक्षिक पहलुओं पर विशेष ध्यान देने की बात कही गई है। इस बात पर भी जोर दिया गया है कि सांस्कृतिक और साहित्यिक आदान-प्रदान के ज़रिए दोनों देशों की जनता एक-दूसरे के करीब लाई जाए ताकि भारत व जापान की जनता के मानस पटल पर एक दूसरे-देश की बेहतर छवि उभर कर आए और दुनिया के नक्शे पर जापान व भारत शांति-दूत के रूप में एक दूसरे के सहयोगी बनें।

2004 में जापानी साहित्य के प्रति बढ़ते रूझान के फलस्वरूप 'इण्डो-जापान एसोसिएशन फॉर लिटरेचर एण्ड कल्चर' की स्थापना हुई। 2005 में अन्तर्राष्ट्रीय ताकुबोकु अध्ययन संस्था (जापान) की भारत पीठ' आकोगारे नो काई' की नींव रखी गई। इन दोनों संस्थानों का प्रमुख उद्देश्य भारत और जापान में परस्पर साहित्य को अनुवाद व शोध के माध्यम से जनमानस तक पहुंचाना है। जापानी काव्यरस के हिन्दी काव्यांतरण की पहली प्रस्तुति 2005 में जापानी साहित्य पर दिल्ली में आयोजित दो दिवसीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी के दौरान एक विशेष कार्यशाला और कवि सम्मेलन में हुई। 2006 में 'आकोगारे नो काई' और इण्डो जापान एसोसिएशन फॉर लिटरेचर एण्ड कल्चर' के तत्वावधान में आयोजित जापानी काव्यमयी सौंदर्य शास्त्र पर एक दिवसीय संगोष्ठी में जापान के श्रेष्ठ कवि इशिकावा ताकुबोकु की लघु कविताओं के हिन्दी अनुवाद की दूसरी किश्त पेश की गई।

भारत व जापान के पारस्परिक सांस्कृतिक संबंधों के स्वर्ण जयन्ती के शुभ अवसर पर पिछले तीन सालों से जापानी व हिन्दी काव्य के अनुवाद की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप पाँच पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। 'स्वसान्निध्य' और 'धुआँ' इशिकावा ताकुबोकु की तान्का कविताओं का हिन्दी अनुवाद है। इन दो पुस्तकों के काव्यानुसाद की प्रक्रिया में हिन्दी व जापानी कवियों, अनुवादकों, भाषाविदों आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ग़ौरतलब है कि भारतीय भाषाओं खासकर हिन्दी में

2007 में भारतीय साहित्य पर आयोजित भारत-जापान साहित्य सम्मेलन के भारतीय प्रतिनिधि मंडल और दैती बुमका विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग

रचित हाइकु काव्य से जापानी पाठकों का परिचय लगभग नहीं के बराबर हैं। हिन्दी हाइकु व तान्का का जापानी अनुवाद 'निकट हम' शीर्षक से हिन्दी के ग्यारह समकालीन कवियों की चुनिन्दा कविताओं के जापानी अनुवाद 'अनन्त की ओर' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

गंगा नदी सदियों से भारत के जनमानस की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक परिवेश के केन्द्र बिन्दु रही है। जापानी कवियों ने भी गंगा को केन्द्र मान भारतीय जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपनी रचना में उतारने की कोशिश की है। 'गंगा बहती है' जापानी और भारतीय कवियों की रचनाओं का एक लघु संस्करण है। ये पाँच पुस्तकें 'इण्डो-जापान एसोसिएशन फॉर लिटरेचर एण्ड कल्चर' ने जापानी व हिन्दी में एक साथ प्रकाशित कीं और इनमें जापान व भारत की आधुनिक काव्य परम्पराओं को काव्यानुवाद के माध्यम से एक साथ पिरोने की चेष्टा की गई है।

इत्तफाक है कि इधर पिछले नौ-दस साल से हिन्दी के रचनाकारों के जापानी कविताओं का हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कुछ अधिक देखने को मिले। जैसे 2002 में मिशियो मादो की उन्नीस कविताओं का हिन्दी अनुवाद उदयन वाजपेयी ने संपन्न किया और वे तनाव पत्रिकाओं में छपीं, शुन्तारो तानीकावा की बीस कविताओं का अनुवाद भी उदयन वाजपेयी के द्वारा तनाव पत्रिका में सन् 1999 में छपा। सन् 1904 में आरिमा ताकाशी की 'ए मैसेज फ्रॉम अन्नोज' कविता सग्रह का अनुवाद बांगला एक तेलुगु में छपे जो कवि विधान दत्ता एवं जे. बापू रेड्डी की सफल कोशिशों का परिणाम है। सन् 2006 में इशिकावा ताकुबोकु की तान्का कविताओं के हिन्दी अनुवाद की पहली किस्त 'इन्टरनेशनल सेमिनार ऑन जैपनीज लिटरेचर' स्मारिका में प्रकाशित हुई और दूसरे ही वर्ष अंजलि देवधर द्वारा अनूदित जापानी हाइकु अंग्रेजी एवं हिन्दी में 'उत्कृष्ट हाइकु: एक नियोजक का प्रवरण' नामक पुस्तक में, रीतारानी पालीवाल का जापान की मान्योशू कविताओं

का हिन्दी अनुवाद साहित्य अकादेमी से, व इशिकावा ताकुबोकु की तान्का कविताओं के हिन्दी अनुवाद की दूसरी किस्त 'जापानी काव्यमयी सौंदर्यशास्त्र' पुस्तिका के रूप में सामने आए।

सन् 2007 एवं 2008 में फिर अंजलि देवधर की ओगुरा ह्याकुनिन इश्शु: सौ कवियों की सौ कविताओं का हिन्दी अनुवाद एवं 'भारतीय हाइकु' नामक दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सन् 2001 से डा० जगदीश व्योम के संपादक में 'हाइकु दर्पण' नामक पत्रिका जो भारतीय हाइकु प्रेमियों एवं रचनाकारों की सृजनात्मकता एवं रूचि को कायम रखने का प्रयास है, लगातार छपती आ रही है।

इन कोशिशों से यह बात तो तय है कि भारतीय रचनाकार जापानी कविताओं एवं साहित्य को पढ़ना चाहता है, जानना चाहता है इन तमाम कोशिशों को अध्ययन केन्द्रों एवं सरकारी-गैर सरकारी संस्थानों की मदद की जरूरत है।

2007 में भारत-जापान के सांस्कृतिक संबंधों की पचासवीं वर्षगांठ को मनाने हेतु भारत एवं जापान में तरह-तरह के आयोजन किए गए। ''जापान में भारत-वर्ष और ''भारत में जापान-वर्ष'' मनाया गया, ताकि दोनों देशों के बीच गहरी दोस्ती हो और पारस्परिक मेलजोल में नए आयाम जुड़ें।

इसी उद्देश्य से ''इण्डो-जापान एसोसिएशन फॉर लिटरेचर एण्ड कल्चर'' ने जापान के ताकुशोकु विश्वविद्यालय के साथ मिलकर दो कविता गोष्ठी, एक भारत में और एक जापान में आयोजित करने की योजना बनाई। भारत में आयोजित संगोष्ठी 26-28 अक्तूबर 2007, जे.एन.यू. परिसर में संपन्न हुई जहां भारतीय कवियों ने भारत की कविता की विविधता पर रोशनी डाली, वहीं जापानी विशेषज्ञों ने जापान की कविता शैली एवं विधाओं को उजागर किया।

भारत-जापान कविता पर आधारित पाँच द्विभाषीय पुस्तकों का विमोचन

भारत की कविता में भारतीयता एवं भारत का प्रभाव पर भी विशेष जानकारी हासिल हुई। जापानी स्कूल के बच्चों ने मैथिली शरण गुप्त कृत 'माँ कह कर कहानी' का काव्य-नाटक प्रस्तुत किया। दिल्ली-विश्वविद्यालय के जापानी पढ़ रहे छात्रों ने कानेको मिसुजु कृत 'कोनोमिची' कविता का नाट्य रूप सबके सम्मुख पेश किया।

तीसरे दिन कविता को संगीत के साथ पेश किया गया। इसमें भारत से 'बाउल' एवं कृष्ण भक्ति के गायक शांतिनिकेतन एवं वृंदावन से हाज़िर हुए। जापान से कविता-गायन विद्या में प्रसिद्ध कलाकार फुकुशिमा यासुकी ने अपने दल के साथ मियाजावा केन्जी, नाकाहारा चूया इत्यादि की कविताओं के गायन से समा बांधा।

भारत में आयोजित संगोष्ठी में हिस्सा लेने वाले जापान एवं भारत के कवियों में से मुख्य है : आरिमा तकाशी, जे बापू रेड्डी, विधान दत्ता प्रयाग शुक्ल, राज बुद्धिराजा, मोहिनी हिंगोरानी, रणजीत साहा, हेमन्त जोशी, इब्बार रब्बी, मुराओ सेइची, कात्सुहिको हामाकावा, तेजी साकाता, योशिओं ताकाकुरा मोचीजुकी योशीत्सुगु, कृष्ण दत्त पालीवाल, आनन्द प्रकाश, मंगलेश डबराल, वरयाम सिंह, सुरेश सलिल, ज्ञानेश्वर मुले, गंगा प्रसाद विमल, फुर्मियों मिजुकावा, तोमियो मिजेकामी, हिराओका सोशु, तुलसीरमन एवं सतपाल।

दूसरी संगोष्ठी ताकुशोकु विश्वविद्यालय तोक्यो में 23-25 नवम्बर, 2007 में जापानी साहितय विशेषज्ञ, भारतीय कवि एवं अनेक विश्वविद्यालय एवं संस्थानों से कई लोग जुड़े।

विभिन्न सत्रों के इस बात का आभास हुआ कि समकालीन भारतीय कविता एवं साहित्य का अनुवाद और अधिक होना चाहिए। जापान का जनमानस भारतीय समकालीन साहित्य से अधिक परिचित नहीं है किन्तु इस ओर जिज्ञासु हैं हमें इस दिशा में जल्द से जल्द पहल करनी चाहिए।

डा० उनीता सच्चिदानन्द
प्राध्यापक, जापानी भाषा एवं साहित्य, दिल्ली विश्वविद्यालय
59, दक्षिणापुरम, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

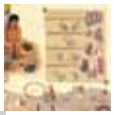

अमेरिकी महाद्वीप की प्राचीनतम सभ्यता: कराल- सूपे

प्रो. ठाकुर दास

विशेषज्ञ यह मानते हैं कि इस पृथ्वी पर मानव जीवन पचास लाख वर्ष पूर्व अस्तित्व में आया किंतु कुछ हजार वर्ष पहले ही नगर सभ्यताएँ विकसित होनी शुरू हुई। पूरे विश्व में मात्र छह समाज ऐसे निकले जो और सभ्यता का विकास कर अपनी जीवन शैली को बदल सके और नदियों अथवा समुद्र के किनारे नगरों की स्थापना कर सके। ये सभ्यताएँ मेसोपोटामिया, मिस्र, भारत, चीन, पेरू और मेसो-अमेरिका की थी।

आज से 5000 वर्ष पूर्व पेरू में प्रथम सभ्यता कराल सूपे का विकास हुआ। यह सभ्यता मेसोपोटामिया की सुमेरिया, एशिया महाद्वीप में भारत की हड़प्पा और चीन की सभ्यता, अफ्रीका में मिस्र की सभ्यताओं की तरह प्रचीन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपर्युक्त सभ्यताओं की तरह कराल-सूपे की सभ्यता का अन्य किसी सभ्यता से कोई संपर्क नहीं था। यह सभ्यता अमेरिकी महाद्वीप की अब तक प्रकाश में आई, 'ओलमेका' सभ्यता से कम से कम 1800 वर्ष पहले की है। कराल को पेरू तथा पूरे अमेरिका में प्राचीनतम नगर सिद्ध करने के लिए 28 रेडियो-कार्बन परीक्षण किए गए।

'कराल-सूपे' सभ्यता का विकास केंद्रीय 'ऐंडीस पर्वत श्रृंखला के किसी भी क्षेत्र में सबसे पहले पेरू के उत्तर-केंद्रीय भाग में हुआ। जब मिस्र में 'सकार' और गाजा की घाटियों में पिरामिडों का निर्माण हो रहा था या जब मेसोपोटामिया में सुमेरिया शहर को बसाया जा रहा था, या जब भारत में विपणन व्यवस्था का विकास हो रहा था उसी समय 3000 से 2500 वर्ष ईसा पूर्व कराल में पिरामिडों के आकार के भवनों का निर्माण किया जा रहा था और उनके केंद्र स्थल (प्लासा) में आर्थिक सांस्कृतिक गतिविधियों का पूर्व निर्धारित आयोजन हो रहा था। 'कराल-सूपे' के निवासी पेरू के अन्य भागों तथा अमेरिका के अन्य प्रदेशों से अलग-थलग विकास कर रहे थे, जबकि अन्य प्रदेश पिछड़ी अवस्था में थे।

भौगोलिक स्थिति:

'कराल-सूपे' स्थल पेरू की राजधानी लीमा से उत्तर की और 184 किलोमीटर और पूर्व की ओर 23 किलोमीटर पर स्थित है। सूपे के पास आस्पेरो स्थल है, थोड़ा आगे सूपे बंदरगाह है। इस क्षेत्र में पाँच स्थलों-कराल, चूपासिगारो, मिराया, लुरी हुआसी और आस्पेरो में तथा हुआनूरा घाटी में एक स्थल विचामा में खुदाई का काम शुरु किया गया। पुरातत्व से संबंधित संस्था 'पेआक्स' ने प्राप्त साम्रगी का विश्लेषण एवं अध्ययन किया। वैज्ञानिक मानक परीक्षणों के आधार पर अवशेषों की प्राचीनता का अध्ययन किया गया। कराल-सूपे की सभ्यता के पुरातात्विक महत्व को प्रकाश में लाने के लिए प्रचार-प्रसार एवं प्रदर्शनियों का आयोजन किया गया।

कहा जाता है कि पेरू में लगभग 12000 वर्ष पूर्व लोगों के रहने के प्रमाण मिलते हैं। इस क्षेत्र के निवासी अपने पालन पोषण के लिए शिकार और मछली पकड़ने आदि के प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर थे। 8000 वर्ष पूर्व व्यक्ति मिलजुलकर रहने और कृषि उत्पादनों का आदान-प्रदान करने लगे थे।

किंतु कराल तथा उसके निकटवर्ती स्थानों पर खुदाई से प्राप्त अवशेषों ने पेरू के पुरातात्विक इतिहास को बदल कर रख दिया है। 5000 वर्ष पूर्व एक ऐसी सभ्यता जो सभ्य सामाजिक व्यवस्था और श्रम विभाजन पर आधारित थी, एक नागर सभ्यता थी, जहाँ समाज के अलग-अलग सामाजिक स्तर के व्यक्तियों के लिए अलग-अलग प्रकार की गतिविधियों और रहन-सहन की व्यवस्था थी।

कराल-सूपे के 44 किलोमीटर के क्षेत्र में 20 ऐसे स्थल पाए गए हैं, जिनमें इमारतों के अवशेष, गोलाकार प्लासा पाए गए हैं, रहने के घरों में पर्याप्त समानता मिलती है। खुदाई से प्राप्त अवशेषों में - पत्थर की मूर्तियाँ, बर्तन, औजार, कपास के बीज, सूत के बुने हुए कपड़े, मछली पकड़ने के जाल, जले हुए भोजन के अंश आदि प्राप्त हुए हैं।

कराल-सूपे के निवासी समुद्री संसाधनों के आधार पर घाटी के अन्य निवासियों के साथ कृषि उत्पादों-विशेषकर सूत के धागे का आदान-प्रदान करते थे, जिससे वे मछली पकड़ने के जाल बनाते थे। इसी से एक ऐसी सभ्यता का विकास हुआ जो आदान-प्रदान की विपणन व्यवस्था पर आधारित थी, जिसमें आगे चलकर आस-पास के

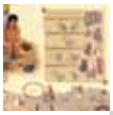

कराल सूपे की सभ्यता

क्षेत्र में व्यापारिक गतिविधियों का श्रीगणेश किया गया।

पेरू का स्थानीय भूगोल तीन प्रकार के भागों में विभक्त है। उतर में प्यूरा-तुम्बेस से लेकर दक्षिण में ताकना तक का समुद्र तटीय भाग (लगभग 2400 किलोमीटर) फिर पहाड़ी भाग तथा तीसरा एमेजोन का भाग है। अत्यधिक विकास समुद्र तटीय भाग (कोस्ता) में हुआ है। इसी में बड़े-बड़े नगर-लीमा, त्रूहियो, प्यूरा, ताकना आदि है। पहाड़ी भाग में आरेकीपा, कुस्को, पूनो, काहामार्का आदि प्रसिद्ध स्थान हैं-कुस्को पेरू की पुरातात्विक राजधानी मानी जाती है। कुस्को के पास विश्व के सात आश्चर्यों में एक **माचुपिच्चु** स्थित है। पूनो के पास एक तितिकाका झील है जो अमेरिका की (एंडीस पर्वत श्रृंखला) की सबसे ऊँची झील है। यह झील तैरते द्वीपों के लिए प्रसिद्ध है। इस झील का एक भाग बोलीविया में पड़ता है तो दूसरा भाग पेरू में है। एमेजोन का भाग घने जंगलो से भरा है।

कराल की वाणिज्यिक गतिविधियों से प्राप्त धन का लाभ संभ्रात वर्ग को अधिक होता था, जिसके पास प्रशासनिक, धार्मिक और राजनैतिक अधिकार थे। इस वर्ग ने बड़ी-बड़ी इमारतों और आवासीय संकुलों का निर्माण किया। आस्पेरो में लगभग 30 इमारतें प्राप्त हुई हैं-जिनमें हुआका आलबा, हुआका दे इदोलेस और हुआका दे लोस साक्रिफिसियोस प्रमुख हैं। ये सारे भवन केंद्रीय स्थल (प्लासा) के आस-पास बने हुए हैं।

सूपे की घाटी में काफी बड़ी संख्या में नागरिक स्थल मिले हैं, जिनसे पता चलता है कि घाटी का यह भाग सामाजिक सांस्कृतिक प्रसार का केंद्र था।

यह घाटी अत्यंत उपजाऊ थी। साथ लगे पहाड़ी इलाके से वर्षा का पानी बहकर नीचे आता था, उससे यहाँ के लोग अपने खेतों की सिंचाई करते थे। जब वर्षा नहीं होती थी तब छोटी-छोटी झीलों के पानी से सिंचाई की जाती थी। इस जल के वितरण की व्यवस्था नहरों नालों के द्वारा होती थी।

कराल का क्षेत्र 66 हेक्टेयर इलाके में फैला हुआ है इसके केंद्रीय भाग में 32 सरकारी ढाँचे मिले हैं। ऐसे ही ढाँचे आसपास के चूपासिगारो,

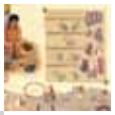

मिराया, लूरीहुआसी में भी मिले हैं।

इस सभ्यता से यह तथ्य भी प्रकाश में आये हैं कि यहाँ के निवासी कपास से सूत तैयार करते थे और सूत से थैले (शिकरा) और पहनने के कपड़े बनाते थे। बुनकरों के काम के लिए औजार भी तैयार किए जाते थे। स्थानीय और आसपास के लोग विभिन्न अवसरों पर कराल में एकत्र होते थे जहाँ वे अपने साथ लाए पदार्थों का आदान-प्रदान करते थे।

खुदाई में प्राप्त अवशेषों में-शंख, सीपियाँ, रंग बिरंगे पत्थर, आभूषण, सजावट का सामान, लकड़ी और पत्थर से बने रसोई के बर्तन, नमक, अमरूद, राजमाँ, आदि प्राप्त हुए हैं। इनमें से सजावट का सामान, आभूषण, लकड़ी और पत्थर के बर्तन मुख्य रूप से संभ्रात वर्ग के प्रयोग में आते थे। इससे यह भी संकेत मिलता है कि कराल सूपे की सभ्यता वर्ग व्यवस्था पर आधारित थी। वर्ग विभाजन संभवत: कार्य के आधार पर होता था। समाज का एक वर्ग प्रशासनिक, राजनैतिक, धार्मिक कार्यों में संलग्न था। कृषक वर्ग गड्ढे खोदकर, उनमें पानी जमा करके अपने खेतों की सिंचाई करता था। वह स्क्वैश, बीन की फली, कद्दू, मिर्च, आलू, शक्करकंद, कपाल, अमरूद आदि पैदा करता था। वह तुतुमो नामक एक छोटा पेड़ भी उगाता था, जिसके बीज और फल कई प्रकार की औषधि के काम आते थे। वे नदियों से मछली पकड़ते थे, हिरन आदि जानवरों का शिकार करते थे और फल, कंदमूल, सीपियाँ एकत्रित करते थे। दलदली जमीन पर उगे हुए सरकंडों से थैले (शिकरा) और चटाइयाँ बनाते थे। वे अपनी उपज का एक भाग अधिकारियों को देते थे और उनकी तथा भगवान की जमीन पर सामूहिक श्रम करते थे।

समुद्रतटीय भाग का मछुआरा वर्ग समुद्री उत्पादों का एकत्रीकरण करता था, मछलियों को सुखाकर उनका अन्य वस्तुओं के साथ विनिमय करता था। वह भी अपने उत्पाद का एक भाग संभ्रांत वर्ग को देता था। सभी वर्ग अपने-अपने उत्पादों का परस्पर आदान-प्रदान करते थे। इसी से आगे चलकर अन्य क्षेत्रों के निवासियों के साथ उनके व्यापारिक संबंध विकसित हुए। इस सभ्यता ने अपने स्थान से बाहर 'ऐंडीस जगत' को प्रभावित किया और इंका समाज की स्थापना (पंद्रहवी-सोलहवीं शताब्दी) तथा सांस्कृतिक प्रक्रिया पर अपनी छाप थोड़ी।

सामाजिक राजनैतिक संगठन

श्रम विभाजन- जिसके अंर्तगत अधिकांश व्यक्ति कृषि, मछली पकड़ने, खान-पान की वस्तुओं के उत्पादन तथा सेवाओं के क्षेत्र से संबंधित थे। एक वर्ग के लोग राजनीति, प्रशासन, धर्म और ज्ञान-विज्ञान के विशेषज्ञ थे। आर्थिक उत्पादन का वितरण असमान रूप से सामाजिक स्तर भेद के अनुसार किया जाता था। सामान्य व्यवस्था के लिए राजनैतिक अधिकारी होते थे। खुदाई से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर पता चलता है कि मृतकों को दफनाने की प्रथा नहीं थी। कुछ इस प्रकार के साक्ष्य भी मिले हैं कि छोटे बच्चों को या बलि दिए गए बच्चों/युवाओं को दफनाया जाता था। आस्पेरो और कराल-सूपे में बच्चों की बलि देने के प्रमाण मिले हैं। किसी भवन की नींव डालते समय इस प्रकार की बलि देने की व्यवस्था थी। इनके साथ कुछ चीजें-बुने हुए कपड़े, बहुमूल्य रत्न, पत्थर, खान-पान की वस्तुएँ आदि भी दफनाई जाती थी। यह बलि दिए गए व्यक्ति के सामाजिक स्तर के अनुसार होता था।

कराल-सूपे के निवासियों की सभी गतिविधियाँ किसी न किसी अनुष्ठान/रीतिरिवाज से जुड़ी होती थीं। वे आमतौर पर 'प्लासा' में एकत्रित होते थे। अपने साथ लाई वस्तुओं को अपने आराध्य को अर्पित करते थे। इनमें बहुमूल्य पत्थर, रत्न, बाल, कीमती वस्तुएँ आदि अर्पित की जाती थीं। इसी अवसर पर संगीत सम्मेलनों तथा मेलों का आयोजन होता था।

जीवन दर्शन

कराल-सूपे के समाज का अपना विशिष्ट जीवन दर्शन था। वे मानव को प्रकृति के अंग के रूप में मानते थे। प्रकृति के संरक्षण को महत्व दिया जाता था। इसी प्रकार का दर्शन उनके अपने कार्यो, अपने

कराल सूपे की सभ्यता

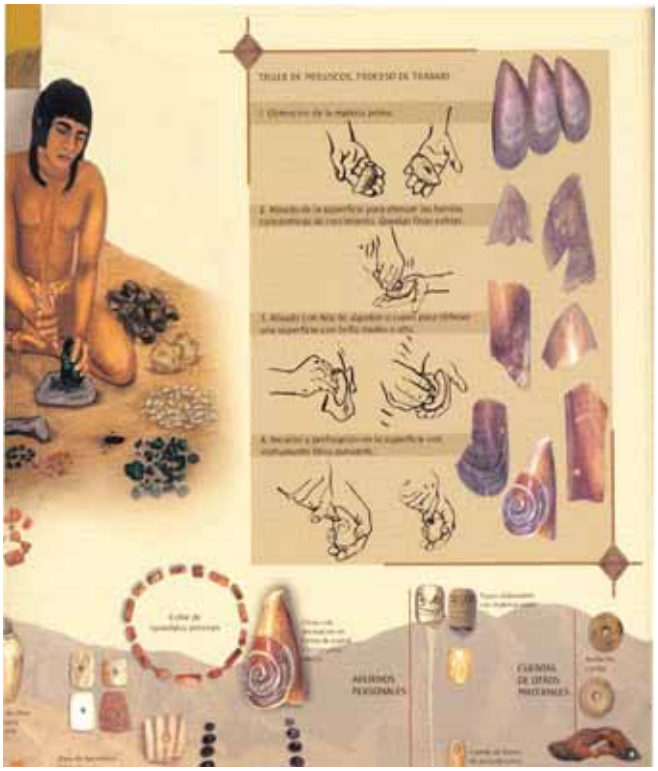

परिवार के तथा अन्य सदस्यों के साथ परस्पर संबंधों में भी झलकता था।

सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, व्यवस्थाएँ परस्पर संबद्ध थीं। वे खगोल शास्त्र, चिकित्सा और अन्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों के भी विशेषज्ञ होते थे। यह सामाजिक वर्ग सामान्य लोगों और देवताओं की अति प्राकृतिक शक्तियों के बीच मध्यस्थ होते थे। समाज में समरसता और सामाजंस्य स्थापना और उस पर अधिकार बनाए रखने में धर्म एक महत्वपूर्ण साधन था।

शासन व्यवस्था

कराल शासन की राजधानी सूपे नदी-घाटी में स्थित कराल शहर में थी। यह घाटी अन्य घाटियों से अलग थी क्योंकि इसमें अन्य घाटियों की अपेक्षा अधिक ढाँचे पाए गए हैं। आकार में कम और कुल निवासियों का पालन पोषण करने में पर्याप्त न होने के कारण इसे अन्य घाटियों के उत्पादन पर निर्भर रहना पड़ता था जिसके लिए राज्य को शासन व्यवस्था की आवश्यकता थी।

सूपे राज्य का अधिकार क्षेत्र तीन घाटियों - सूपे, पातिविल्का और फोर्तोलेसा तक सीमित था। इन घाटियों के निवासियों के सांस्कृतिक लक्षणों में समानता थी जो उनकी स्थापत्य, अनुष्ठानों के समय अर्पित वस्तुओं तथा वस्त्रों के डिजाइनों में पाई जाती है। सूपे संस्कृति का प्रसार इन घाटियों से भी परे था जो तत्कालीन उत्तर- केंद्रीय समाजो के परस्पर संपर्क के कारण था। कराल-सूपे की महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति के कारण आसपास के क्षेत्रों से व्यापारिक संबंध बढ़े।

इस प्रकार सूपे राज्य एक प्रकार की समेकित शासन व्यवस्था थी जिसका प्रभाव क्षेत्र के अंदर व बाहर भी था। यह शासन संघीय व्यवस्था पर आधारित था जिसमें स्थानीय शासन आंतरिक मामलों के लिए उत्तरदायी था। समाज के सभी वर्ग अपने-अपने उत्पाद का कुछ भाग शासकों को देते थे।

कराल के अन्य क्षेत्रों के निवासियों के साथ भी व्यापारिक संबंध थे जिनके साथ वे वस्तुओं के आदान-प्रदान किया करते थे।

इस सभ्यता ने बाद में विकसित होने वाली अनेक सभ्यताओं के विकास को प्रभावित किया जिनमें चावे, मोचे, लीमा, नास्का, तियाहुआनाको, वारी, चिंचा, इचमा, चीमू और अंत में इंका सभ्यताएँ प्रमुख हैं।

निष्कर्ष:

1. सूपे के निवासी स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था का अंग थे जो उत्पादक प्रक्रिया और सामाजिक उत्पादन के असमान वितरण पर आधारित थी।
2. सूपे के केंद्रीय शासन के साथ-साथ आस-पास की घाटियों में स्थानीय शासन था।
3. श्रम विभाजन का सिद्धांत प्रचलित था, जिसके आधार पर वैज्ञानिक, तकनीकी, कलात्मक ज्ञान का विकास संभव हो सका।
4. यह सभ्यता और यहाँ के निवासियों की जीवन शैली नागर बस्तियों के आस-पास केन्द्रित थी।

प्रो. ठाकुर दास
बी-1/436, जनक पुरी,
नई दिल्ली-110058
मो.: 9312267304

रोमानिया में भारतीय दृष्टि की निरंतरता

डा० रणजीत साहा

रोमानिया यूरोप में उन महत्वपूर्ण देशों में हैं, जिसमें कई ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव और राजनीतिक दबावों के बावजूद अपनी भौगोलिक और सांस्कृतिक सत्ता और पहचान को सफलतापूर्वक बनाए रखा है। क्षेत्रफल की दृष्टि से दो लाख उन्तालीस हज़ार वर्ग किलोमीटर में फैला यह देश यूरोप का बारहवाँ देश है और इसकी आबादी है बाईस करोड़।

इसके उत्तर में उक्रेन (कभी सोवियत रूस का एक राज्य) और पूर्व में मोल्दोवा, और काला सागर है, दक्षिण में बुल्गारिया, दक्षिण-पश्चिम दिशा में सर्बिया-मोण्टेनेग्रो और पश्चिम में हंगरी है। अपने प्राकृतिक सौंदर्य और आधुनिकता के बावजूद परम्परागत जीवन शैली के लिए रोमानिया आज भी उन पर्यटकों और प्रशंसकों के आकर्षण का केन्द्र है, जो नैसर्गिक सौंदर्य और अकृत्रिम जीवन मूल्यों के साथ सदियों से अर्जित उसके सांस्कृतिक वैभव को नज़दीक से देखना चाहते हैं। इस देश की सुदृढ़ रीढ़ है—कार्याथियन पर्वतमाला-जो अपनी उच्चता, हिमाच्छादित भव्यता और नई नदियों की जननी के नाते यहाँ की जीवन रेखा है और सैलानियों को आनन्ददायक और अन्तहीन यात्राओं के लिए आमंत्रित करती रहती हैं। इन पहाड़ों, पहाड़ियों, पठारों एवं उपत्यकाओं में बसे गाँवों और घाटियों में बसी असंख्य बस्तियों की निराली छटा देखते ही बनती है। हरे-भरे चरागाहों में घास चरते पशुओं-घोड़े, गाय, भेड़-बकरियों के झुंड तथा परंपरागत परिधानों में गोरे, स्वस्थ और हँसमुख चेहरे वाले इस उदार देश के लोगों को जितना अपने देश से प्यार है उतना ही भारत के प्रति भी आदर और सम्मान का भाव है। इस आदर का एक कारण यह भी है कि रोमानिया की मूल प्रजाति 'रोमा' आज भी खुद को भारतवंशी मानती है। इनका विश्वास है कि उनके पूर्वज भारत के थे।

अपनी सदानीरा नदियों (डेन्यूब, म्यूरेस, ओल्त, प्रुत, सिरेत, सोमेस आदि), ख़ूबसूरत झीलों और पूर्व में लगभग ढाई सौ किलोमीटर तक फैले काला सागर के रोमांचक तटों के कारण रोमानियावासियों का अपने देश के प्रति विशेष प्रेम है। हालांकि रोमानियाई लोगों के अलावा रूसी, फ्रांसीसी, तुर्की, इतालवी प्रजाति के लोग भी यहाँ सदियों से रह रहे हैं लेकिन लगभग नब्बे प्रतिशत लोगों की भाषा रोमानियाई ही है—इसलिए पूरा देश रीति-रिवाज़, परिधान और रहन-सहन तथा सामाजिक संस्कार के पार्थक्य के बावजूद एक ही भाषा में बातें करता है और एक ही ज़ुबान में गीत गाता है। प्राक्-स्थानीयों एवं अल्पसंख्यकों की भाषा एवं संस्कृति को भी यहाँ पर्याप्त सम्मान मिला हुआ है। यहाँ तक कि रोमानिया में बस गए यहूदी लेखकों की कृतियाँ भी यहाँ के प्रकाशक (हासेफर पब्लिशिंग हाउस) द्वारा प्रकाशित की जाती हैं।

रोमानिया के विभिन्न संग्रहालयों में देशी-विदेशी दर्शकों और पर्यटकों या मुसाफ़िरों की जानकारी के लिए अतीत में बिला गए उन सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक क्षणों को सहेजकर रखने का उपक्रम किया गया है। अगर ऐतिहासिक संदर्भ की बात करें तो इस देश का अतीत बहुत प्राचीन है। रोमन साम्राज्य के प्रभाव से पश्चिम से लेकर डेन्यूब नदी और इसके नीचे बुल्गारिया तक आए परिवर्तनों की झलक और फिर आठवीं सदी से बाइजेंटाइन साम्राज्य के दौर में रोमानिया की आबादी में अन्य सम और विषम प्रजातियों के घुल-मिल जाने से एक नई शुरूआत हुई। गोथ, हूण, गेपिडाई, आवार, स्लाव, बुल्गारियाई, कुयानियाई आदि प्रजातियाँ भी क्रमशः अपने-अपने ढंग से इस विशाल जनसमाज का हिस्सा बन गईं। रोमानिया के किसी भी संग्रहालय में कैथोलिक ईसाई धर्म और इससे प्रभावित एवं दीक्षित वर्ग-चाहे वह शासक हो या शासित-से जुड़े असंख्य निदर्शन दीख जाते हैं। इनमें ईसाई संतों का आशीर्वाद, उनके प्रभाव से हुए चमत्कार और अभिप्रायों के तौर पर चित्रित विषयों—(यथा, शिशु ईसा और माँ मरियम, अंतिम भोज, सलीब उठाए ईसा, स्वर्ग में संतों का साम्राज्य और उनका आशीष, संतों का शासकों से संवाद, विभिन्न कैथोलिक संतों के जीवन एवं उपदेशों आदि) से दीर्घाएँ भरी मिलती हैं।

यह सब रूस, ब्रिटेन और बुल्गारिया के चर्चों में भी पहले से देखा जा सकता था। और जब विभिन्न 'मोनास्टरीज़' या चर्चों में चित्रित या प्रदर्शित इन चित्रों को—चाहे वे काष्ठ पर अंकित हों, धातु पर उत्कीर्ण हों या पत्थरों पर उकेरे गए हों—देखा जाए तो यह सोचने को बाध्य हो जाना पड़ता है कि जो समाज जितना उद्विग्न और संतप्त रहता है (या रहता होगा) वह अपने आराध्यों, संतों आदि के ऐसे ही चित्रों

या मूर्तियों के भरोसे अपने दु:खों को पार करना चाहता होगा। हालाँकि ऐसे चित्र अभिजात और राजसी घराने के लोग ही बनवा सकते थे। चर्चों के आदेश पर बाइबिल और सुसमाचार से संबद्ध गाथाओं एवं सेंट्स के जीवन एवं संदेश को उजागर करने वाले भित्तिचित्रों—जिनसे चर्चों की दीवारें, छतें, काँच की खिड़कियाँ, वेदियाँ और अवशेष पेटिकाएँ पटी पड़ी हैं—की गणना कौन कर सकता है ? इनमें दोहराव हैं, अनुकरण हैं लेकिन धार्मिक आस्था के कारण और इतने राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के बावजूद—आज भी अकूत संख्या में ये 'आइकॉन' बन रहे हैं और बिक रहे हैं। इसलिए रोमानिया के इन प्रमुख संग्रहालयों में भी इन्हीं आइकॉनों के माध्यम से मध्ययुग और बाइजेंटाइन काल की ऐतिहासिक पड़ताल की गई है। सत्ता पक्ष तथा धर्मपीठ अर्थात् कैथोलिक ईसाई आस्था और व्यवस्था के साथ या गाहे-बगाहे विरुद्ध तथा समय-समय पर होने वाले युद्ध और वैचारिक टकराव के बावजूद रोमानियाई समाज और संस्कृति में सुरक्षित लोकयात्रा की लय टूटती-फूटती प्रतीत होती हुई भी आगे बढ़ती रही है।

सांस्कृतिक दृष्टि से रोमानिया जहाँ विभिन्न प्रजातियों की उपस्थिति से संश्लिष्ट, समृद्ध और महत्वपूर्ण देश है, वहाँ भौगोलिक दृष्टि से इसके उत्तर में रूस, पश्चिम में हंगरी, दक्षिण में यूगोस्लाविया और बुलगारिया तथा पूर्व में काला सागर स्थित कई द्वीप समूह हैं। अपने रचनात्मक संकल्प, जुझारू आत्म-संघर्ष तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सौन्दर्य तथा औदार्य में—यानी जीवन के हर क्षेत्र में—रोमानिया पश्चिमी यूरोप के देशों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण देशों में से एक है। पिछले कुछ दशकों में निकटस्थ देशों में घटी अविश्वसनीय घटनाओं, विशेषकर राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद, विश्व के मानचित्र पर रोमानिया अपनी ऐतिहासिक उपस्थिति को निरन्तर सक्रिय और जीवन्त बनाए

रोमानिया की राजधानी बुखारेस्ट स्थित अकादेमिया दी रोमानिया

हुए है।

उन्नीसवीं सदी में रूस और तुर्कों के युद्ध के बाद—तीन राज्यों (बालचिया, मोल्दोवियवा और त्रान्सिलवानिया) को मिलाकर रोमानिया जहाँ बृहत् शक्ति बना और शोषण तथा सामन्ती अत्याचारों से उबर सका—वहाँ रूस की समाजवादी क्रान्ति से भी स्वभावत: प्रभावित हुआ। वर्ष 1947 में यहाँ जनवादी व्यवस्था क़ायम हुई और फिर 1965 में नए संविधान की स्वीकृति के साथ यह समाजवादी गणतान्त्रिक रोमानिया राज्य बना। हालाँकि 1994 में वह समाजवादी व्यवस्था (भूतपूर्व सोवियत रूस से प्रभावित) ढह गई और एक नई लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अधीन वहाँ संसदीय शासन प्रणाली लागू हुई, जिसमें पाँच वर्षों के बाद चुनाव होते हैं।

वस्तुत: समकालीन रोमानियाई कविता संकलन 'सच लेता है आकार' में संकलित कविताएँ बीसवीं सदी के राजनीतिक अपघात और सांस्कृतिक विघटन की कई छवियों से तीव्र मुखर हैं। अधिकांश कवियों और कवयित्रियों ने अपनी रचना विधि में जिन आयाचित स्थितियों एवं अवांछित परिवर्तनों और संक्रातियों को लक्ष्य किया, उन्हें अपनी रचनाओं में पूरी ईमानदारी से सम्बोधित किया है। इनमें उनकी लम्बी ख़ामोशी, प्रश्नाकुल प्रतीक्षा और चीख़ भी शामिल होती चली गई है। इन कविताओं पर विगत दो महायुद्धों की काली, त्रासद और अवसादपूर्ण छाया के बावजूद, उससे उबरते हुए परवर्ती पीढ़ी के लिए जितना कुछ, जैसे भी संभव हो, बचाने की भरपूर कोशिश देखी जा सकती है। समकालीन रोमानियाई कविता के बारे में भारतीय पाठकों के अनुभव और जानकारी आज तक स्वल्प ही हैं। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित संचयन ने इस कमी को बहुत हद तक दूर किया। इस अनुवाद के माध्यम से हिन्दी कविता के भूगोल का अवश्य ही विस्तार हुआ था।

इन कविताओं में यूरोपीय क्लासिकी के समृद्ध पूर्वपक्ष का रचनात्मक प्रतिपक्ष बेहद मुखर है, जो मिथकीय विश्व के दृश्यपटल की संरचनात्मक ऊर्जा को व्यक्ति की निजता या आत्म-छवि से भी जोड़ता है। इओआन आलेक्सान्द्रु के अलावा इस रोमानियाई कविता संकलन में आना ब्लांडिआना, कोन्स्तांता बूज़ेआ, निना कास्सिआन, श्तेफ़ान आउगूस्तीन दोइनाश, मारिऑन सोरेस्कु, निकिता स्तनेस्कु और इओन स्तोईका—आठ रचनाकारों की कुल तिरानबे कविताएँ अनूदित हैं।

ऐसे ही अवसरों पर अपनी रचनात्मक सहभागिता करते हुए, मैने भारत में रोमानिया के वर्तमान राजदूत श्रीयुत वासीले सोफ़ोनेती से

रोमानिया के साहित्य, विशेषकर वहाँ के राष्ट्रकवि मिहाई एमिनेस्कु (1850–1889 ई.) के साहित्यिक योगदान पर केन्द्रित अपनी एक योजना को आरंभ करने का संकल्प दोहरा या। कवि मिहाई रोमानियाई साहित्य के ही नहीं, समस्त यूरोपीय साहित्य के शिखर हस्ताक्षर हैं और उनकी रचनाएँ विश्व की प्रमुख भाषाओं में पहले ही अनूदित हो चुकी हैं।

जहाँ तक रोमानिया के काव्य-संसार और विश्व के इस महान कवि के रचनात्मक विस्तार की बात है, रोमानिया गए बिना भारत के पाठकों को इसका शायद अंदाज़ नहीं होगा। उनके खण्डकाव्य *लूच्या फेरूल* का अनुवाद विश्व की पचास से अधिक भाषाओं में हो चुका है। इस काव्य में रोमानिया के लोककण्ठ में रची-बसी एक प्रेमकथा को आधार बनाकर कवि ने पार्थिव या नश्वर प्रेम की ऐन्द्रिकता को अविनश्वर बताते हुए एक नया प्रेमाध्यात्म चित्रित किया है। प्रेम के चिरन्तन पक्ष को भारतीय स्मृति और परम्परा में मिली प्रतिष्ठा के आलोक में, इस काव्य में भारतीय प्रेमादर्श और आस्था की अनुगूँज सुनाई पड़ती है।

रोमानिया-प्रवास के दौरान मुझे जहाँ से सर्वाधिक सहायता मिली, उनमें यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय और उनकी शाखाओं का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। अगर पुस्तकें पुस्तकालय में उपलब्ध हैं तो आरंभिक औपचारिकताओं के तत्काल बाद वे देखने को मिल जाती थीं।

रोमानिया की राजधानी और लगातार फैलता महानगर बुखारेस्ट अपने सीने में कई संस्कृतियाँ और इतिहास की धड़कनें सँजोए हुए है।

मिहाई एमिनेस्कु की स्मृति में निर्मित याशी (रोमानिया) का विख्यात संग्रहालय

अपने शहरी वैभव, आधुनिक सुविधासंपन्न जीवनशैली, परम्परागत जीवन मूल्य और नई पीढ़ी की आकांक्षाओं से दीप्त यह महानगर मुख्य सड़कों की तेज़ रफ़्तार वाली ज़िन्दगी के बरक्स अपनी कॉलोनियों में बेहद शांत और शालीन नज़र आता है। वाहनों की आवाजाही समाप्त होते ही उनकी ख़ामोशियों से आप बातें कर सकते हैं। पेड़ों, फूलों, पशुओं और उत्सवों से एक समान प्यार करने वाले रोमानियाई लोगों को भारतीय भी बेहद पसंद करते हैं।

रोमानिया के कई संग्रहालयों में चाहे वह इपोतेश्ती (ओतोशानी) हो या बुखारेस्ट स्थित नेशनल म्यूज़ियम ऑव मॉडर्न आर्ट, पार्लियामेंट हाउस म्यूज़ियम हर जगह दीवारों पर जड़े जाने वाले आइकॉन (ईसा मसीह, मरियम और बाईबिल में वर्णित संतों के जीवन से संबंधित चित्र बहुलांश में देखे जा सकते हैं। माटी और धातु के पुराने बर्तन, पात्र, औजार, बुने हुए वस्त्र, क़ालीन, नमदे और तख्ते बड़े जतन से प्रदर्शित हैं। घरेलू सामग्री-जैसे चक्की, रसोई के सामान, खेती के उपस्कर, दूध और मक्खन बिलोनेवाले पात्र, आवाँ, चूल्हे और चिमनी में पिछली कई उनींदी शताब्दियों को महसूस किया जा सकता है। ये सभी सामान भारतीय कृषि जीवन में अभी भी कमोबेश अपनी ज़रूरत के साथ मौजूद हैं। इन संग्रहालयों से गुज़रते हुए हमेशा यही प्रतीक होता है कि मानवीय संतति की आवश्यकताएँ कम हों तो मनुष्य अपने अतर की अभीप्सा और आकांक्षा के साथ अधिक संवाद कर सकता है। तभी चिंतन, दर्शन और रचना प्रणयन के लिए सर्जक मन को अधिक अवकाश मिल सकता है।

विश्वप्रसिद्ध मूर्तिकार ब्रांकुसी के अलावा चित्रकला के क्षेत्र में लम्बी परम्परा के बावजूद यूरोपीय परिदृश्य में रोमानिया की अभी कोई ख़ास या निजी पहचान नहीं बन पाई है। हालाँकि रोमानिया में स्तेफ़ान लूचियान ने नवकला आन्दोलन की शुरूआत की थी। विभिन्न संग्रहालयों की बात छोड़ भी दें तो बुखारेस्ट के नेशनल म्यूजियम ऑफ मॉडर्न आर्ट का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यह मध्यकालीन आधुनिक और यूरोप—तीन प्रमुख विभागों में बँटा है। पहले भाग में ऐसी असंख्य कृतियाँ प्रदर्शित हैं जो उत्तरी मोल्दाविया राज्य से प्राप्त हुई हैं। इन्हें धातु पटल या काष्ठफलक पर देसी या प्राकृतिक रंगों से उकेरा गया है। कहीं-कहीं गहरे काले रंग के साथ सुनहले रंग का भी प्रभावी प्रयोग किया गया है। आम लोगों के मन में इन कृतियों, विशेषकर आइकॉन का विशेष सम्मान था और घरों में भी किसी दीवे पर लगाए जाने का प्रचलन भी।

आधुनिक दौर के यूरोपीय और रोमानियाई कलाकारों की कृतियों

में उन्नीसवीं सदी के बाद से होने वाले आरंभिक कला प्रयोगों से बीसवीं सदी के मध्य तक तेजी से आए बदलावों को लक्ष्य किया जा सकता है। उन्हें 'स्टिल लाइफ़' (स्थिर चित्रण), पोर्ट्रेट (प्रतिकृति या शबीह), लैंडस्केप (दृश्यांकन या सैरा) और अमूर्त संयोजन (अब्स्ट्रैक्ट कंपोजीशन)—जैसे स्वीकार्य वर्गीकरण के अंतर्गत रख पाना संभव नहीं होगा। इस दौर के हर कलाकार ने अपनी पहचान के लिए जिस युक्ति या शैली अथवा माध्यम (कभी-कभी मिश्रित भी) को उपयोग में लाया है उसे छोड़कर वह फिर नए प्रयोग और नई प्रविधि में जुट जाता है। आधुनिक प्रयोगधर्मी चित्रकारों—थिओडोर पलाडी, निकोलाईतेनित्ज़, ज्योर्गी पेत्रास्कु, जी-अल स्तेरिआदि, निकोलाई दाशस्कु, कामिल रेस्सु, फ्रांसिस सिरातो, योसिफ़ इसेर आदि की कृतियाँ जहां दर्शकों का ध्यान आकर्षित करती हैं, वहीं उन्हें नग्न, विरूप, विद्रूप, विषम या निर्वसन—चाहे जो संज्ञा दें—कलाकारों की निर्बन्ध मानसिकता को गहराई हो व्यंजित करती हैं।

मोगोशाया पैलेस के आसपास बनी इमारतों में स्थायी तौर पर बने कलामंडप और दर्शक दीर्घा की चर्चा आवश्यक रूप से की जा सकती है। जहाँ नियमित रूप से समकालीन कलाकारों की प्रदर्शनियाँ लगाई जाती रही हैं। साथ ही, उनके कार्य से संबंधित सचित्र पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं। इन कलाकारों में एलेक्सान्द्रु रादवन, कार्मेन निस्तालेरेस्कु, थियोडोर कार्नेट-पाप्प, इयोन लूचियान मुर्नु (कनि के नाते भी प्रतिष्ठित) और एलेनई कोपुजेआनु—जैसे महत्वपूर्ण नाम लिए जा सकते हैं। भारत से रोमानिया प्रवास पर कुछ महीने रहे पंकज कानेरेई की प्रदर्शनी भी यहाँ लगी थी। भारत वापस आने के कोई दस दिन पहले दान ज्योरनेस्दु द्वारा बनाए गए कोलाज से मैं सचमुच चमत्कृत हुआ। अपने रचाव और पैटर्न में बेहद कल्पनाशील तथा, काले, स्याह, कंजे, आबनूसी और ताकोली 'शेड' के काग़जों के कुशल संयोजन और चौड़े काले-फ्रेम में ही मूढे गए कोलाज का काला जादू रोमांचकारी था। पैलेस की महानिदेशक और सुप्रसिद्ध कला समीक्षक डॉ. देइना मान्द्रु से मैं समय-समय पर मिलता रहता था। उनके अभिभावक और कलाशिक्षक इयोन लूचियान मुर्नु की कई कृतियाँ मैं उनके आवास पर जाकर देख आया था और उनकी तस्वीरें कैमरे में उतारी भी थीं।

इसी तरह 8 जून को विश्व मेला मंडप के विशाल परिसर में फैले सुरुचि पूर्ण ढंग से आयोजित पुस्तक प्रदर्शनी में यह देखकर अच्छा लगा कि कई स्टालों पर रोमानिया के सुप्रसिद्ध चिंतक, संपादक और कथाकार मिर्चिया एलियादे की जन्मशती (1907-2007) के अवसर पर उनकी कृतियों के अभिनव और उपहार योग्य संस्करण विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित किए गए हैं। एलियादे लम्बे समय तक भारत में रहे और एक तरह से कोलकाता उनका कार्यक्षेत्र रहा। उनकी कई कृतियों के पात्र प्रसंग भारतीय ग्रंथों और मिथकों से लिए गए हैं। हालाँकि उनकी कई कृतियाँ अंग्रेज़ी और दूसरी भाषाओं में बनी हैं। लेकिन हिन्दी में उनकी किसी कृति का अनुवाद अब तक नहीं हुआ है। यहाँ मुझे एडितुरा हेराल्ड प्रकाशन के मालिक मि० स्क्रिमा ने आमंत्रित किया था, जो पैडोगोजिकल इन्स्टीच्यूट में मेरे व्याख्यान से प्रभावित हुए थे। उनके स्टाल पर महाभारत के प्रसिद्ध आख्यान सावित्री-सत्यवान को केन्द्र में रखकर रोमानियाई भाषा में लिखित सावित्री पुस्तक का लोकार्पण किया गया। यहाँ उपस्थित विद्वानों में डा० ब्लाड भी थे। उन्होंने कोलकाता में रहकर दत्तात्रेय लिखित गीता का आष्य रोमानियाई भाषा में अनूदित किया था। उक्त प्रकाशन ने योगसूत्र (पंतजलि), वाराह मिहिर, शंकर, वृहत् जातक, सांख्यकारिका, विज्ञान भैरव-जैसी कृतियों के अनुवाद ही नहीं, भगवदगीता, कबीर (सारवी, पद और रमैनी) के अलावा शंकर, गौडपाद और सदानंद के विभिन्न भाष्य भी प्रकाशित किए हैं। उपस्थित विद्वानों के अलावा भारतीय दूतावास के सचिव कृष्ण स्वरूप भी हमारे साथ बैठे रहे।

इस आलेख का अंत रोमानिया के राष्ट्रकवि मिहाई एमिनेस्नु (1850-1889 ई.) के विशिष्ट कविकर्म और स्वाध्याय में सम्मिलित प्राच्यविद्या के साथ भारतविद्या और संस्कृत भाषा प्रेम के उल्लेख के बिना नहीं किया जा सकता। 'लूच्चाफेरूल' (सांध्य तारा), 'अतित दे प्रेजादा', 'स्क्रिसोआरिया' और कई कविता संकलन के प्रणेता एमिनेस्कु का परिचय, जर्मनी प्रवास के दौरान विश्वप्रसिद्ध चिन्तक एवं दार्शनिक शापेन हॉवर से हुआ था। प्राच्य दर्शन से प्रभावित युवा अध्येता एमिनेस्कु ने भारतीय क्लासिक और कालजयी कृतियों—महाभारत, रामायण तथा कालिदास की रचनाओं से संबंधित जानकारी प्राप्त की। वेद और उपनिषदों आदि के जर्मन में हो रहे अनुवादों से परिचित होने के साथ संस्कृत भाषा के प्रति उनका लगाव भारतीय संस्कृति और साहित्य को समझने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रस्थान बना। 'ग्रामाटिका संस्कृति' की लगभग ग्यारह सौ पृष्ठों में बनाए गए व्युत्तन्तिमूलक कोश (आंशिक तौर पर प्रकाशित) की पाण्डुलिपि आज भी विद्वानों को हैरानी में डाल देती है। इसे सेर्गुइ अल-ज्योगी, अमिता बोस, दिमित्रि वातामानियु और उर्मिला रानी त्रिखा के साथ डॉ. जार्ज अंक प्रकाशित करने के इच्छुक हैं।

मिहाई एमिनेस्कु की कविता जहाँ अपने समय और समाज के साथ राज से भी संवाद करती रही, वहीं दार्शनिक उदात्तता और देतात्म संबंधों की अलौकिकता, शाश्वतता और अद्वयता को भी शकांकित

अ şi आ , dacă le urmează इ sau ई , se schimbă în ए ; cu उ sau ऊ se schimbă în ओ , cu ऋ în ऋ अर् , cu ए sau ऐ în ऐ , cu ओ sau औ în औ ; de ex. बाल şi बाला formează : cu इष्टि , बालेष्टि ; cu ईर्षा , बालेर्षा ; cu उष्ट्र उष्ट्र , बालोष्ट्र ; cu ऊरु , ■ बाला बालोरु ; cu ऋद्धि , बालर्द्धि ; cu एध , बालैध , cu ऐश्वर्य , बालैश्वर्य ; cu ओक , बालौक ; cu औदार्य ,

gramatica sanscrită

ÎN VERSIUNEA
LUI

MIHAI EMINESCU

करती रही। उन्नीसवीं सदी के इस प्रश्नाकुल और 'द लास्ट रोमांटिक' कवि ने परंपरागत आस्थाओं को चुनौती भी दी थी। उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण था अपनी कवि सत्ता पर अविचल विश्वास और कविकर्म के प्रति अनन्य संलग्नता। अपनी यू नु केंद्र निचि इन यहोबा' (मुझे यहोबा पर तनिक विश्वास नहीं) शीर्षक कविता में वह अपने को रोमांटिक घोषित करते हुए कहते हैं—

''नहीं, मुझे नहीं है विश्वास किसी यहोबा पर
या कि बुद्ध—शाक्य मुनि पर
न तो जीवन पर और न जुड़ाव पर।
और तुम मुझे बहला नहीं सकते
भव्य शैली, चतुर, निपट और पाण्डित्यपूर्ण
कालजयी कृतियों से—
वे सब की सब हैं मेरे लिए एक-जैसी,
मैं बदला नहीं जा सकता—मैं ठहरा रोमांटिक।
...मुझे परंपराबंध में मत उलझाओ
मैं चाहता हूँ उनसे शान्ति और मुक्ति
कोई बाध्यता नहीं, जो तुम्हें पसंद हो—करो
और मुझे भी करने दो, जो मैं चाहता हूँ।
परिवर्तन इतना सहज नहीं (तो भी)
रहना चाहता हूँ मैं उन्मुक्त, निर्बंध
और आत्मगत... आज भी... आगे भी।''

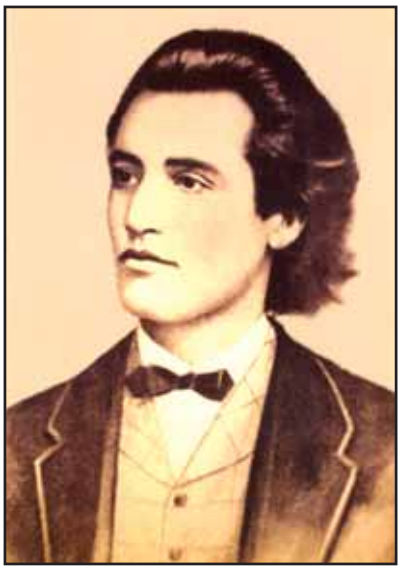

मिहाई एमिनेस्कु : रोमानिया के राष्ट्रकवि

पैतृक गाँव पोतोशानी का इपोतेश्ती पूरा इलाका, यहाँ का संग्रहालय, विद्यालय, अतिथि परिसर और मिजाज़—सब कुछ कवि मिहाई की रचनात्मक भावसत्ता का ही जीवंत किन्तु प्रशान्त साक्षी है। मैंने वहाँ एमिनेस्कु की आवक्ष प्रतिमा के सम्मुख—संग्रहालय के अभिलेख के लिए उक्त कविता के साथ अन्य तीन कविताओं की अंग्रेज़ी व्याख्या के साथ हिन्दी अनुवाद का पाठ किया। इनमें से एक कविता भारतीय देवशिशु 'कामदेव' शीर्षक कविता भी थी। कामदेव से परिचित कराने के लिए मैंने कवि कालिदास प्रणीत 'कुमारसंभवम्' का भी उल्लेख किया—जिसका जर्मन अनुवाद मिहाई ने बर्लिन-प्रवास के दौरान देखा था। वर्ष 1888 ई में लिखित यह छोटी-सी कविता प्रेमी कवि के कामज्वर को और भी उद्दीप्त कर देती है। 'कामदेव' शीर्षक कविता का हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है—

''मैं चाहता था मेरे हृदय को लगा आघात
प्रेम के जादुई डंडे से मुक्त हो,
इसलिए मैंने अपनी नींद में बुलाया
—एक भारतीय हिन्दू देवता को
और वह देवशिशु शीघ्र आ पहुँचा
सगर्व...तोते पर सवार
प्रवाल से लाल अपने अधरों पर मुस्कान लिए
उसके पंख थे और तरकश में थे उसके
कई प्रकार के अचूक बाण—
घातक और विषैले फूलों से बने
और जिन्हें गंगा के विशाल शिलाखंडों से
पैना किया गया था।
उसने अपने धनुष से एक पुष्पबाण छोड़ा
जो सीधे मेरे हृदय में बिंध गया
और उसके बाद से, मैं अपने बिस्तर पर
रोता रहता हूँ, जाग-जागकर।
इस प्रकार अपने विषबुझे बाणों से
स्वर्ग के देवशिशु और मेरे निर्मम भ्रम ने
मुझे और भी प्रताड़ित किया
और फेंक दिया मुझे संदेह के जाल में।''

डॉ० रणजीत साहा
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

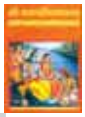

भारतीय संस्कृति का वाहक—श्रीरामचरित मानस

करुणा शर्मा

लगभग 500 वर्षों पूर्व रचा गया 'श्रीरामचरितमानस' आज भी हिन्दू जनता का कण्ठहार बना हुआ है। सूर्यवंश की गाथा गाने वाला यह मानस सूर्य के समान आज भी दैदीप्यमान है। यह ग्रंथ विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हो चुका है, विश्व के अनेक देशों का मार्गदर्शन कर रहा है जैसे फिजी, मारीशस, त्रिनीदाद आदि। भारत ही नहीं विश्वमंच पर इसकी अद्वितीय प्रतिष्ठा का कारण क्या है? प्रश्न पर गहन मनन एवं चिन्तन करने के पश्चात् यह तथ्य प्रत्यक्ष हुआ है कि इस मानस की आश्चर्यजनक प्रसिद्धि एवं शाश्वतता के पीछे कारण है, इसमें पाई जाने वाली भारतीय संस्कृति। ''श्रीरामचरितमानस'' में भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण धारा प्रवाहित हो रही है, भारतीय संस्कृति इस ग्रंथ में रची-बसी हुई है। भारतीय संस्कृति का धर्म, उसका दर्शन, उसका समन्वयवाद, उसकी उदारता, उसका लचीलापन, उसका 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव, उसका प्रेम, उसका परोपकार, उसका लोककल्याणकारी स्वरूप, गुरुजनों के प्रति आदर एवं सम्मान का भाव, उसकी दया, उसकी विनम्रता, उसकी मर्यादा और भी न जाने क्या क्या इस 'मानस' में समाये हुए हैं। यदि मैं दूसरे शब्दों में कहूं कि भारतीय संस्कृति का पर्याय बन चुका है, भारतीय संस्कृति का वाहक बन चुका है—'श्रीरामचरितमानस'' तो भी गलत न होगा।

वास्तव में ''श्रीरामचरितमानस'' भारतीय संस्कृति का वाहक है, इस पर चर्चा करने से पूर्व संस्कृति के सन्दर्भ में श्री विद्यानंद मुनि के विचार जानें। मुनि श्री विद्यानंद जी संस्कृति को समाज की आचारसंहिता मानते हैं क्योंकि बिना संस्कृति के समाज रचना की कल्पना नहीं की जा सकती। वह समाज को मार्गदर्शन कराती हैं, ''संस्कृति समाज तथा व्यक्ति को सुधारती है, संवारती है और उज्ज्वलता प्रदान करती है, आत्मधर्म का जागरण संस्कृति के पावन प्रभाव से होता है''। (पिच्छ कमंडलु, पृष्ठ 166) संस्कृति की ये सभी विशिष्टतायें भारतीय संस्कृति में पाई जाती हैं। ''मानस'', भी सैकड़ों वर्षों से भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहा है क्योंकि इसमें जो कुछ भी कहा गया है ''नानापुराणनिगमागमसम्मत'' है अर्थात् संस्कृति सम्मत है।

भारतीय संस्कृति में गुरूजनों के प्रति सम्मान की भावना अद्वितीय है। तुलसीदास जी रचना करने से पूर्व सर्वप्रथम गुरूजनों की वन्दना करते हुए लिखते हैं :-

बंदउँ गुरुपद कंज कृपा सिन्धु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।

तुलसी स्वयं गुरूजनों का आदर करते हैं और श्रीराम को उनका आदर करना सिखाते हैं, तभी तो श्रीराम का आचरण—

प्रतिकाल उठि कै रघुनाथा। मातृ पिता गुरु नावहिंमाथा।
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषई मन राजा॥

हमारी संस्कृति में एक राजा के लिए मुनि समाज एवं गुरु समाज वन्दनीय माना गया है तभी तो राजा दशरथ विश्वामित्र ऋषि के आने पर—

चरन पखारि कीन्ह अति पूजा। मो सम आज धन्य नाहिं दूजा॥

कहकर विनम्र भाव से सम्मान करते हैं, जब राजा जनक को ज्ञात होता है कि जनकपुर में विश्वामित्र ऋषि आए हैं तो वे भी मंत्री, योद्धा और ब्राह्मणों के साथ, उनसे मिलने के लिए स्वयं जाते हैं। राम लक्ष्मण के मन में जनकपुर देखने की उत्कंठा है, लेकिन वे मुनि की आज्ञा के बिना नहीं जा सकते, जब मुनि उन्हें वहां जाने की आज्ञा दे देते हैं, तब वे दोनों राम और लक्ष्मण अपनी संस्कृति के अनुकूल व्यवहार करते हैं—

मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन सुखदाता॥

यद्यपि राम लक्ष्मण से बहुत बड़े नहीं है, तथापि हमारी भारतीय संस्कृति में अपने से बड़ों का मान रखने की परम्परा है। जब जनक यह कहते हैं—

''वीर विहीन महि मैं जानि'' इसे सुनकर लक्ष्मण के अंग-अंग क्रोध से फड़कने लगते हैं जब उनके बड़े भाई—*सयनहिं रघुपति*

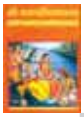

लखन नेवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे। अर्थात राम के संकेत करने पर प्रेम से उनके पास बैठ जाते हैं।

लोककल्याण की भावना भारतीय संस्कृति की ऐसी विशेषता है जिसके कारण ही भारतीय संस्कृति आज तक जीवित है। इसी जनकल्याण की भावना को केन्द्रित करके ही 'मानस की रचना हुई'। लोककल्याण हेतु ही राम का जन्म हुआ। सृष्टि के कल्याण की भावना के आ जाने पर दशरथ अपने स्वार्थ को परे कर अपनी आंखों के तारे राम और लक्ष्मण को मुनि विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं। देवताओं के बार-बार अनुरोध करने पर सरस्वती लोकहिताय मन्थरा नाम की मंदबुद्धि दासी को अपयश की पिटारी बनाकर उसकी बुद्धि फेरकर चली जाती हैं। राम को जब वन गमन का आदेश मिला है, तो वे शोक के स्थान पर आनन्दित होते हैं, कारण—लोक कल्याण। वनवास के दौरान जब एक मुनि के आश्रम में वे अस्थियों का समूह देखते हैं और जब उन्हें ज्ञात होता है कि निशाचरों ने ऋषि मुनियों को त्रस्त कर रखा है तो वे जनहित के लिए ही कठोर प्रतिज्ञा करते हैं—

निसिचर हीन करहूं महि भुज उठाई पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के अश्रमन्हि जाई जाई सुख दीन्ह॥

जनहित में अपने जीवन का बलिदान करना पड़ जाये तो वह भी स्वीकार्य है।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आधार होता है प्रेम-भाव जो कि रामचरितमानस में पग-पग पर देखने को मिल जाता है। प्रेम ही वह तत्व है जो एक दूसरे को बांधे हुए हैं। माता पिता का अपनी संतति से प्रेम, गुरूजनों का अपने छोटों के प्रति प्रेम, भाइयों-भाइयों का पारस्परिक प्रेम, मित्र का मित्र के प्रति प्रेम, पति का पत्नी के प्रति तथा पत्नी का पति के प्रति प्रेम, राजा का प्रजा के प्रति प्रेम, राम का शबरी तथा निषादराज के प्रति प्रेम आदि प्रेमभाव के असंख्य उदाहरण हैं, जिनसे पता चलता है कि प्रेम तत्व मानस की आत्मा है। वह प्रेम का भाव ही तो है जब राम को अपने राज्याभिषेक का समाचार मिलता है तो वे हर्ष के स्थान पर शोकाकुल हो जाते हैं। वे सोचते हैं—

जन्में एक संग सब भाई। भोजन सयन केरि लरकाई॥
करनवेध उपबीत विहाआ। संग संग सब भये उछाहा॥
विमलवंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाई बड़ेहि अभिषेकू॥

शबरी के प्रेम में वशीभूत श्रीराम उसके झूठे बेर खाने में भी संकोच नहीं करते। मानस के राम को कर्मकाण्ड के स्थान पर प्रेम ही प्रिय है—

रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ सो जाननिहारा॥

विनम्रता भारतीय संस्कृति का एक ऐसा गुण है जो यह सिद्ध करता है कि मनुष्य के जीवन के बहुत से झगड़े विनम्रता से ही जाते हैं। तुलसी के राम विनम्रता की प्रतिमूर्ति हैं। सीता स्वयंवर के समय जब धनुष भंग होता है, उसकी प्रतिध्वनि सम्पूर्ण ब्रह्माड में गुंजायमान होती है। उसकी टंकार सुन अत्यन्त क्रुद्ध परशुराम जब जनक दरबार में पहुंचकर, टूटे हुए धनुष को देखकर, तोड़ने वाले का नाम जानना चाहते हैं, तब श्रीराम का उत्तर—

नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥

लक्ष्मण के कुटिल-कठोर वचनों से क्रुद्ध परसुराम को श्रीराम विनम्रता से ही शान्त करते हैं—

कहिअ बेगि जेहि विधि रिस जाई। मुनि नायक सोई करौ उपाई॥

भारतीय संस्कृति में इस तथ्य पर भी बहुत बल दिया गया है कि व्यक्ति को अपनी मर्यादा में रहना चाहिए। अति और न्यूनता दोनों ही हानिकारक हैं, अति के सम्बन्ध में कबीरदास का दोहा बहुत प्रचलित है—

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥

अर्थात मर्यादा में रहना चाहिए। तुलसीदास के 'मानस' में भी मर्यादा के पालन पर बल दिया गया है। राम, लक्ष्मण जनकपुर की पुष्पवाटिका में जाते हैं, उधर सीता भी गौरी पूजन के लिए आती हैं, दोनों ही युवा हैं, दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं, लेकिन दोनों ही मर्यादा में रहते हैं, राम की स्थिति—

देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत वचनु न आवा॥

अर्थात् अत्यन्त सौन्दर्यमयी सीता को देखकर हृदय में ही विचार करते हैं उनके मुख में वचन नहीं निकलते और उधर सीता जब *''सीतास्वयंवर'* के समय श्रीराम को वहां देखती हैं तो उन्हें टकटकी लगाकर देखने के स्थान पर कैसा मर्यादित आचरण करती हैं—

गुरूजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुवीररहि उर आनि॥

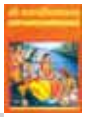

श्रीराम विनम्रता और धैर्य का संतुलित व्यवहार करते हैं। लंका पहुंचने का मार्ग चाहिए। अत्यन्त पराक्रमी एवं अतुलित बल के धाम राम रास्ता मांगने के लिए तीन दिन तक याचना करते हैं लेकिन जब—

विनय न मानत जलधि जड़ गये तीनि दिन बीति
बोले राम सकोप तब भय बिनु होई न प्रीति॥

और जब भयभीत समुद्र ने राम के चरण पकड़ लिए तो क्षमाशील राम—

सुनत बिनीत बचत अति कह कृपाल मुराकाई
जेहि बिधि तरै कपि कपकु तात सो कहइ उपाई॥

इस प्रकार क्षमाशीलता का दूसरा रूप हैं राम, शरणागत वत्सल और सत्य के पुजारी हैं राम, धर्म का साक्षात स्वरूप है राम और भारतीय संस्कृति के पूर्ण प्रतिनिधि हैं राम।

श्री रामचरितमानस में लोकनायक तुलसी ने जिस ''विजय रथ'' की संकल्पना की है, वह वास्तव में अनुपम हैं। पूरी की पूरी भारतीय संस्कृति समाहित है उनमें। दृश्य उस समय का है जब राम रावण का मुकाबला करने के लिए युद्धभूमि में हैं। विभीषण देखते हैं कि रावण तो रथ पर सवार है और राम रथहीन, तो उनके मन में सन्देह जागृत होता है कि वे रावण से युद्ध में कैसे जीतेंगे? राम उसकी शंका का समाधान इन चौपाइयों में करते हुए कहते हैं कि वे तो ऐसे रथ पर सवार हैं—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि शक्ति प्रचंडा। बर विग्यान कठिन हो दंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जन नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥

अर्थात शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिए हैं, सत्य और शील उसकी दृढ ध्वजा और पताका हैं, बल, विवेक, दम, (इन्द्रियों का वश में होना) परोपकार—ये चार उस रथ के घोड़े हैं जो क्षमा, दया, समता रूप डोरी से बंधे हुए हैं। ईश्वर का भजन उस रथ का सारथी है, वैराग्य ढाल है और संतोष तलवार है, दान फरसा है। बुद्धि प्रचण्ड शक्ति हैं, श्रेष्ठ ज्ञान कठिन धनुष है, निर्मल और अचल मन तरकश के समान है। सम (मन का वश में होना) यम और नियम, ये बहुत से बाण हैं, ब्राह्मणों और गुरु का पूजन अभेद्य कवच हैं, इसके समान विजय का कोई दूसरा उपाय नहीं है, ऐसे धर्म रथ पर श्री राम सवार हैं। मनुष्य आज भी ऐसे धर्म रथ पर सवार रहता है, तो उसकी विजय निश्चित समझनी चाहिए।

''श्रीरामचरितमानस'' में भारतीय संस्कृति के मूल तत्व ''आत्मिक आनन्द'' की उपलब्धि कराने वाले राज्य की भी कल्पना की गई है। भारतीय संस्कृति के सभी तत्वों को उभारने का जो प्रयास तुलसी ने किया, उनका वह प्रयास कसौटी पर खरा उतरा है और इस बात को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है —''गोस्वामी जी के शब्दों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी के प्रभाव से आज भी हिन्दू भक्त अवसर के अनुसार सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, महत्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म में उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का अवलम्बन करता है और मानव जीवन के महत्व पर गर्व अनुभव करता है'' (गोस्वामी तुलसीदास, पृ 4)

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'मानस' आज प्रतिष्ठा और गौरव के शिखर पर प्रतिष्ठित होकर भारतीय संस्कृति का वाहक बन गया है।

करुणा शर्मा,
132, आम्रपाली अपार्टमैंट्स,
प्लॉट नं० 56, आई.पी. एक्सटैंशन,
दिल्ली-110092

आपका पत्र मिला

''संस्कृति'' मंत्रालय द्वारा प्रकाशित अर्धवार्षिक पत्रिका संस्कृति का नवीनतम अंक मुझे प्राप्त हुआ, जिसका मैंने अवलोकन किया। मंत्रालय का यह एक सराहनीय प्रयास है। मेरी शुभकामनाएं।

(सोनिया गांधी)
अध्यक्ष, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, 24, अकबर रोड, नई दिल्ली–11

''संस्कृति'' पत्रिका बहुत सुन्दर है, उपयोगी सामग्री से भरपूर है, छपाई, चित्र और सज्जा अत्यंत आकर्षक एवं सुरूचिपूर्ण है जो ज्ञानवर्द्धक भी हैं और भारत की सांस्कृतिक विविधता एवं अंतर्भूत एकता को भी प्रदर्शित करते हैं।

डॉ. मुरली मनोहर जोशी, संसद सदस्य (राज्य सभा), 6, रायसीना रोड, नई दिल्ली–110001

संस्कृति निःसन्देह अपने नाम के अनुरूप भारतीय संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करती है, जिसमें देश की सांस्कृतिक विविधताओं एवं आन्तरिक विशिष्टताओं का सजीव एवं सुरूचिपूर्ण वर्णन किया गया गया है। पत्रिका में संकलित सामग्री रोचक, जिज्ञासापूर्ण होने के साथ चिंतनीय है जिसमें प्राचीन के साथ–साथ नवीन को भी सशस्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

पत्रिका में प्रकाशित दुर्लभ फोटोग्राफ जहां भारतीय कला की झलक प्रस्तुत करते हैं, वहीं पत्रिका के आकर्षण को भी बढ़ाते हैं। कुल मिलाकर संस्कृति से निःसृत कला, साहित्य एवं संस्कृति की त्रिवेणी सराहनीय प्रयास है। **"संस्कृति"** के माध्यम से पाठकों को भारत की अतुल्य सांस्कृतिक धरोहर से पुनः परिचित कराने का प्रयास सराहनीय एवं सार्थक है, जिसके लिए आप तथा आपका संपादक मण्डल निश्चय ही बधाई के पात्र है।

राम निवास मिर्धा अध्यक्ष, संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली

पत्रिका में नर्तकियों का पोस्टर एक नवीन और अनूठी प्रस्तुति है। इस प्रकार की प्रस्तुति से पत्रिका–प्रकाशकों को एक नया आयाम मिलेगा। निःसन्देह पत्रिका में शामिल सामग्री प्रेरणादायक व ज्ञानवर्धक है।

मीना गुप्ता , सचिव, भारत सरकार, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय, नई दिल्ली

इस पत्रिका के माध्यम से भारतीय संस्कृति की झलक आम लोगों तक पहुँचाना वास्तव में एक सराहनीय प्रयास है।

रीता सिन्हा, सचिव, भारत सरकार, भूमि संसाधन विभाग, ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली

अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत हुआ मानो कुछ पृष्ठों के इस लघु संकलन में आपने समस्त सरिताओं एवं ज्ञान बिन्दुओं को समाहित करने का प्रयास किया है, आपकी यह कार्यशैली निश्चय ही सराहनीय एवं दूसरों के लिए प्रेरणा स्त्रोत है। एक ओर जनभाषा में संपादित इस पत्रिका से कई लोग अपनी विशाल कलात्मक धरोहरों की महत्ता से भी परिचित हो सकेंगे। पत्रिका का कलेवर साज सज्जा, संपादन एवं विषय सामग्री अत्यंत उच्चकोटि की है। पत्रिका में छपे समस्त लेख संबंधित विषयों पर ज्ञानवर्धक जानकारी देते हैं।

डॉ. नारायण व्यास, अधीक्षण पुरातत्वविद, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, मंदिर सर्वेक्षण परियोजना (उतरी क्षेत्र), कमरा नं० 312, तृतीय तल, निर्माण सदन, 52–ए अरेरा हिल्स, भोपाल–462 011

"संस्कृति" का नया अंक सचमुच बेहद सराहनीय है। संस्कृति मंत्रालय की पत्रिका में इतने गंभीर और कलात्मक विषयों को प्रभावशाली ढंग से पेश करने के लिए आप तथा "संस्कृति" के जुड़े सभी सलाहकारों तथा सहयोगियों को बधाई।

आलोक मेहता, सम्पादक, 'आऊटलुक' ए बी, सफदरजंग एन्कलेव,, नई दिल्ली–110029

इस पत्रिका के लेख रुचिकर है तथा नर्तकियां नाम की चित्रकृति निस्संदेह लुभावनी है। आशा है कि भविष्य में भी इस पत्रिका के अंक मिलते रहेंगे।

शशि उबान त्रिपाठी, सदस्य, संघ लोक सेवा आयोग, धौलपुर हाऊस, शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली–110061

"संस्कृति" पत्रिका का सुसज्जित अंक हाथ आते ही इसके अवलोकन की हार्दिक इच्छा हुई। भारतीय कला, स्थापत्य एवं पौराणिक शैली की कला दीर्घा के माध्यम से राजभाषा हिन्दी में महत्वपूर्ण सामग्री का संयोजन उत्कृष्ट लगा। सांस्कृतिक मूल्यों से ओत–प्रोत रचनाओं का संग्रहण उच्च कोटि का है। सांस्कृतिक मूल्यों

को सुरक्षित एवं प्रचारित-प्रसारित करने वाली यह पत्रिका आने वाले समय में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाएगी। मेरा विश्वास है कि इस पुस्कालय को इस पत्रिका के नियमित अंक प्राप्त होते रहेंगे।

गणेश नारायण शर्मा, राज्य पुस्कालयाध्यक्ष, राज्य केन्द्रीय पुस्तकालय, गांधीनगर, जयपुर।

यह देखकर प्रसन्नता हुई कि प्रस्तुति और सामग्री दोनों लिहाज से पत्रिका बेहतर और प्रभावी बनी है। आपने अपने संपादकीय में भारत के बहुलतावादी संस्कृति के संदर्भ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का उद्धरण ठीक ही दिया है। पत्रिका में प्रकाशित लेख भारतीय संस्कृति के विविध रूपों और उसके इतिहास से रूबरू कराते हैं। चित्रों का चयन कलात्मक और सुरूचिपूर्ण है। विजय वर्मा का लेख "महक रही फुलवारी हमारी" भारत की उद्यान संस्कृति के समूचे इतिहास को हमारे सामने उजागर करती है। प्रो. महावीर सरन जैन का लेख "हिन्दी उर्दू का द्वैत" भी महत्वपूर्ण है। ज्ञानचन्द्र जैन की पुस्तक के प्रकाशन के बाद हिन्दी और उर्दू को लेकर बहस तेज हुई है। भीम बैठका से संबंधित डॉ. नारायणदास व्यास का लेख विद्वतापूर्ण एवं शोधपूर्ण है। राजेन्द्र अवस्थी का यात्रा वृत्तांन्त "सिक्किम के पहाड़ों मे" अत्यंत रोचक बन पड़ा है। डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने अपने लेख "भारतीय संस्कृति और मूल्य बोध" में कई महत्वपूर्ण मुद्दे उठाऐ हैं। उनका यह कथन सही है कि भारतीय संस्कृति में कोई भी अन्य नहीं है। भारतीय संस्कृति किसी को पराया नहीं रहने देती। उसका आधार हिंसा और अलगाव नहीं है बल्कि प्रेम और बंधुत्व है।

ब्रजेन्द्र त्रिपाठी, उप सचिव, साहित्य अकादेमी,, 35 फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली

'संस्कृति' के सारे लेख थोड़े में बहुत का संकेत देते हैं। अपना लेख सर विलियम जोंस के चित्र के साथ देखकर बहुत अच्छा लगा। उनका चित्र प्राप्त करने में भी आपको कठिनाई हुई होगी।

जगदीश प्रसाद वरनवाल कुन्द, रेलवे स्टेशन बाजार, आजमगढ़ (उ. प्र.)

'संस्कृति' की प्राप्ति हुई, यह इस कदर पठनीय सामग्री और सुंदर व दुर्लभ चित्रों से सजी हुई है। इसे तो घूंट-घूंट पीना पड़ेगा। खर्चा तो बहुत हुआ होगा, लेकिन सलीके से लगाया गया है वरना हमारी भारतीय संस्कृति तो ऐसी है कि ''मुफ़्त का चंदन घिस्स मेरे लल्ला''। कृपया अन्यथा न लें अपना अंदाज ऐसा ही है। फकीराना, बकौल साहिर लुधियानवी -

इक शहन्शाह ने बनवा के हसीं ताजमहल, हम गरीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक।

आपका ताजमहल भी हसीन है, आवरण चित्रों से नजर हटती नहीं। सुंदर स्त्रियां मोहती तो हैं, पर भय और अभाव का एहसास भी जगा देती हैं।

हसन जमाल, सम्पादक-शीश, जोधपुर-342002

आभार और इतना सुन्दर अंक निकालने के लिए बधाई। वैसे यही क्या इस पत्रिका के सभी अंक इतने लाजवाब निकलते रहे हैं कि सब मेरे पास संग्रहीत हैं। इस अंक में लोक कला पर सामग्री विशिष्ट है। वह व्यापक जानकारी ही नहीं देती, बेहद दिलचस्प तरीके से हमें हम से ही रूबरू करवाती है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि संस्कृति पत्रिका को उसके स्तर के अनुरूप प्रशन्सा और सम्मान मिल रहा है। जो भी इसे पढ़ता होगा सोचे बिना नहीं रहता होगा कि इसका संपादन व प्रबन्धन कोई रूक्ष सरकारी अफसर नहीं, कलामर्मज्ञ ही कर सकता है। आज के व्यवहारिक, व्यवसायिक युग में यह हमारे मानस को सहलाने वाली एक बड़ी उपलब्धि है।

मृदुला गर्ग, ई 421 (भूतल) जी के 2, नई दिल्ली -110048

नर्तकियां पोस्टर भावनाओं को छूने वाला है और पुस्तकालय ने इसे सार्वजनिक प्रदर्शनी में रखने का निर्णय किया है।

एम आई शेख, राज्य पुस्तकालय अध्यक्ष, केन्दीय पुस्तकालय बड़ोदरा

पत्रिका देख-पढ़कर मन प्रसन्न हो उठा। इतना सुन्दर, पठनीय तथा कलात्मक अंक के लिए हार्दिक बधाई। यह एक मानक रूप कहा जा सकता है। इस अंक की सामग्री, साज-सज्जा तथा प्रस्तुतिकरण सभी अद्भुत तथा आनन्ददायक हैं। भारत सरकार की पत्रिकाओं में यह सर्वश्रेष्ठ हिन्दी पत्रिका कही जा सकती है। पुन: बधाई और शुभकामनाएँ।

डा. कमल किशोर गोयनका, ए-48, अशोक विहार, फेज-प्रथम, दिल्ली-110052

शुरू से अन्त तक एक ही दिन में पढ़ा। बड़ी ही रोचक और ज्ञानवर्धक सामग्री पाकर मन प्रसन्न हुआ। सम्पादकीय पढ़कर वास्तव में लगा कि सम्पादक की सोच कितनी विशेष है, जिसने पुरातन और नवीनतम के संयोग पर अपनी सारगर्भित टिप्पणी प्रस्तुत की।

विजय वर्मा का शोधपूर्ण आलेख "महक रही फुलवारी हमरी" पढ़कर डॉ. एम एस रंधावा के आलेख और उनके बुलेटिनों की याद आई। विजय वर्मा का आलेख हिन्दी में भारतीय संस्कृति के परिवेश से होने के कारण अधिक लोकप्रिय और वांछिक है।

वी के शर्मा, 3 खेड़ा निवास,, समौली, शिमला-6

"संस्कृति" जैसी पत्रिका निश्चित ही हमारी भारतीय संस्कृति के श्रीवर्द्धन में बेहद महत्वपूर्ण है। आपने अपनी संपादकीय "बहुसांस्कृतिक भारतीयता" में जिस तरह संस्कृति और सम्यता की सूक्ष्म, स्टीक व्याख्या की है, उनके अंतर की विवेचना की है, वह वंदनीय है एकदम सही कहा है-संस्कृति सोच है, अत: सूक्ष्म है "इंटेलीबल " है "सरल" है, किन्तु इसी सूक्ष्म का बाह्य और स्थूल रूप सम्यता है और वह "टेंजीबल" है। आमतौर पर इतने सुस्पष्ट रुप से संस्कृति और सभ्यता की पहचान लोग नहीं करा पाते। मेरी बधाइयां।

वैसे तो हर आलेख ज्ञानवर्धक और कई कई तरह की सूचनाओं से भरपूर है पर मुझे "संस्कृति और संस्कार" ," भारतीय संस्कृति और मूल्य बोध" तथा "भाषा का संस्कृति और जीवन से संबंध" लेख खूब रुचे। ऐसी सुरूचिपूर्ण पत्रिका के प्रकाशन के लिए साधुवाद।

उर्मिला जैन, निवास-संदर्भ 8ए/1 बन्द रोड, एलनगंज, इलाहाबाद

महिला फल खाते हुए राजा रविवर्मा, मुख्य आवरण अतीव आकर्षक, मनोरंजक तथा नयनाभिराम है।

अनुक्रम अति ललित रूप में सुसज्जित किया गया है। सर्वप्रथम "बहुसांस्कृतिक भारतीयता" ही पठनीय,मननीय एवं चिंतनीय प्रतीत हुआ। आपने स्वाभाविक, सरलता व सहजता से ही प्रस्तुत कर दिया, जिसमें रोचकता का पुट अधिक है। आपने तो संस्कृति और सभ्यता का विश्लेषण भी किया।

"संस्कृति" अंक में सकल लेख संस्कृति, कला, लोककला, संस्कार, मूल्यबोध, जीवन से संबंधित हैं। समग्र लेख संस्कृति को स्थिर करने में सहयोगी सिद्ध होते हैं। पढ़कर हर्षित हूँ। "महक रही फुलवारी हमरी" अपूर्व लेख है।

हर्ष नंदिनी भाटिया, नंदन, भारती नगर, मैरिस नगर, अलीगढ़-202001

यह अंक भी पिछले अंकों की तरह ही अपनी विशिष्ठ रचनाओं के कारण संग्रहणीय बन गया है। लेखों के साथ प्रकाशित चित्रों के कारण बराबर ऐसा अनुभव होता रहता है कि पाठक के समक्ष कोई पत्रिका नहीं, बल्कि एक मनोहारी अलबम है। भारतीय संस्कृति पर ऐसी ही बहुरंगी पत्रिका की आवश्यकता थी। इस पत्रिका के प्रकाशन के लिए संस्कृति विभाग बधाई तथा साधुवाद का पात्र है।

श्रवणकुमार गोस्वामी, आश्रय, नयी नगड़ा टोली, चौथी गली (पूरब), राँची-834 001

भारतीय संस्कृति की विभिन्न उपलब्धियों की तर्कसंगत विस्तृत विवेचना तथा आकर्षक चित्रों से समृद्ध यह अंक भव्य तथा संग्रहणीय है। सार्थक तथा सुरूचिपूर्ण प्रस्तुति के लिए बधाई।

शम्भु बादल, सूरज घर-जबरा रोड, कोर्स, हजारीबाग-825301, झारखण्ड

एक सुखद आश्चर्य और प्रसन्नता से मन प्रसन्न हो गया। सरकारी पत्रिकाओं में उत्कृष्ट कागज़ और छपाई तो मिलती है (वहीं मिल भी सकती है) पर रचनात्मकता का ऐसा उपयोग और विषय-केंद्रित आलेखों का ऐसा समुच्चय शायद ही किसी शासकीय पत्रिका से मिला हो। आपका पूरा सम्पादकीय और प्रशासकीय परिवार बधाई का पात्र है।

आज, जब संस्कृति के नाम पर अपसंस्कृति की बाजारू और फासीवादी ताकतें अपनी दुकान चला रही हैं "संस्कृति" के विविध रूपों की उन्मुक्त चर्चा और उसका प्रचार-प्रसार बेहद जरूरी हो गया है। काश आपका यह आयोजन उस नई पीढ़ी तक पहुँच जाता जिन्हें "संस्कृति" शब्द ही अप्रासांगिक लगता है।

इस अंक के सभी आलेख ज्ञानवर्धक, सुरूचिपूर्ण एवं प्रासंगिक है।

डॉ. जयनारायण, सम्पादक, 'अनुभूति' विकास भवन, बहराइच-271 801

इस पत्रिका में दिखाई गयी विभिन्न संस्कृतियों की चित्रकृति एवं लेख काफी रोचक एवं ज्ञानवर्धक हैं।

प्रो. हरि शंकर वासुदेवन, निदेशक, मौलाना अबुल कलाम आजाद, एशियाई अध्ययन संस्थान, 5, अशरफ मिस्त्री लेन, कोलकाता-700019

इस पत्रिका से काफी जानकारी प्राप्त होती है। जैसे पाषाण कलाकृति, पुरातत्व, चित्र सहित प्रकाशित किया है। पत्रिका भविष्य के छात्रों के लिए उपयोगी होती है। संस्कृति मंत्रालय की उपलब्धि श्रेष्ठ है।

बी एस शांताबाई, प्रधान सचिव, कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, चामराजपेट, बेंगलौर-560 018

पूर्व अंकों की भांति यह अंक भी आकर्षक साज सज्जा तथा बहुमूल्य पठनीय सामग्री से परिपूर्ण है। संपादन कौशल और उत्कृष्ट सामग्री के संकलन की दृष्टि से यह अंक भी संग्रहणीय है। हमारी बधाई स्वीकार करें।

संपादकीय से अपने भारत की बहुलता वाली संस्कृति की जो व्याख्या की है वह सराहनीय है। प्रख्यात हिन्दी सेवी डॉ. रत्नाकर पाण्डेय जी ने गांधीदर्शन के परिप्रेक्ष्य में भारतीय स्वतंत्रता की चेतना को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है उनकी विद्वता को नमन। डॉ. सैय्यद हसन मुज्तबा रिजवी, विजय वर्मा, श्री महावीर सरण जैन, अरूण कुमार, हीरो ठाकुर, डॉ. वन्दना वर्मा, डॉ. पदमा देवी, मृदुला सहाय, डॉ. नन्दलाल महता, डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल तथा विश्वमोहन तिवारी के आलेख शोधपूर्ण एवं विशेष पठनीय है। आवरण आकर्षक एवं संग्रहणीय है, विशेष रूप से "गंजीफा कार्ड" अधिक आकर्षक है, इसे अंतिम आवरण पर दिया जाता तो अधिक उपयुक्त रहता। अंतिम और प्रथम आवरण पर आपने महिलाओं को ही स्थान दिया है वह विभाग की दृष्टि से उचित हो सकता है और उनका कलात्मक मूल्य भी है लेकिन भारतीय संस्कृति समग्रता और बहुलता को समेटे हुए है अतएव ग्रामीण परिवेश और ग्रामीण नारी के सौंदर्य को भी मुखपृष्ठ पर देने का प्रयास किया जाए तो और भी उचित रहेगा।

इस अंक की चित्रकृति "नर्तकियां" विशेष उपलब्धि है। हार्दिक साधुवाद चयन और सुंदर प्रकाशन के लिए। यद्यपि यह चित्र मुझ से अधिक मेरे युवा पुत्र को विशेष रूप से चित्ताकर्षक लगा। संभवत: हमारी युवा पीढ़ी हमसे अपनी संस्कृति के प्रति अधिक संवेदनशील है। हम तो, नैतिक-धार्मिक मूल्यों की बेड़ी में ही कैद है। समग्रत:, यह अंक पठनीय और संग्रहणीय है। पुन: हार्दिक बधाई।

श्री हरिसिंह पाल, 684, इन्द्रा पार्क, नई दिल्ली-45

संपादकीय में भारत की बहु-सांस्कृतिक प्रकृति के संदर्भ में कवीन्द्र रवीन्द्र के विचार ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की समन्वित संस्कृति का सही अर्थों में दिग्दर्शन कराते हैं। पत्रिका में संकलित लेख निश्चय ही पठनीय और संग्रहणीय है।

ऐसी पत्रिका विश्वविद्यालयों और उच्चशिक्षा के छात्रों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है, क्योंकि यह उन्हें देश की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराती है। गांधी दर्शन पर डॉ. रत्नाकर पांडेय का लेख गाँधी जी के सिद्धांतों की ओर आज भी हमारी आस्था जागृत करता है। प्रो. महावीर शरण जैन ने उर्दू और हिंदी के अलगाव के लिए फोर्ट विलियम कॉलेज को ठीक ही उत्तरदायी ठहराया है, यही भावना आगे चलकर साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लेती है। इस संदर्भ में उनका यह कथन बिल्कुल सही है कि उर्दू को इस्लाम धर्म या मुसलमानों के साथ जोड़ दिया गया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम पर भी कई अच्छे लेख हैं।

भारतीय संस्कृति पर डॉ. सैय्यद हुसैन मुज्तबा रिजवी, डॉ. नन्दलाल मेहता बागीश, डॉ. कृणदत्त पालीवाल, डॉ. हीरो ठाकुर और विश्व मोहन तिवारी के लेख गहन चिंतन का परिचय देते हैं। सर विलियम जोन्स के संस्कृत भाषा के अध्ययन पर एक अच्छा शोधपूर्ण लेख है। भीम बैठका के शैल-चित्रों के साथ डॉ. विष्णु श्रीधर वाकणाकर के योगदान को रेखांकित कर उन्हें उचित श्रद्धांजलि दी गई है। उत्कृष्ट सामग्री चयन और कुशल सम्पादन के लिए बधाई।

डॉ. परमानन्द पांचाल, 232 ए, पाकेट-1, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091

आपका संपादकीय "संस्कृति" कल्चर को रामधारी सिंह दिनकर द्वारा की गई भारतीय संस्कृति की व्याख्या के साथ जोड़ता है। उसमें नृवैज्ञानिक समनवर के कथन, 'कल्चर इन द सम टोटल आफ ह्यूमन बिहेवियर' तथा भारतीय मनीषा की संस्कार-पद्धति से जोड़ दिया जाए तो उसे सामासिक संस्कृति कह सकते हैं। डॉ. रत्नाकर पाण्डेय के लेख में गांधी जी के अहिंसा-सिद्धांत को हम संस्कृति के विभिन्न रूपों के साथ अहिंसा-संस्कृति की संज्ञा भी दे सकते हैं। विश्वमोहन तिवारी ने संस्कृति को भाषा के साथ संबद्ध किया है। इस विषय पर डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल तथा डॉ. हीरो ठाकुर के लेख भी पठनीय हैं। डॉ. महावीर सरण जैन के लेख में हिंदू मुस्लिम संस्कृति का समन्वय सप्रमाण सुंदर ढंग से किया है। राजेन्द्र अवस्थी का लेख पर्वतारोहण के साथ पहाड़ी संस्कृति को भी स्पर्श करता है। इसी प्रकार अन्य लेखों में चिंतन के विविध आयाम परिलक्षित होते हैं क्या ही अच्छा हो आप विश्व में भारतीय संस्कृति पर कोई विशेषांक प्रकाशित करें।

डॉ. श्याम सिंह शशि, अनुसंधान, बी-4/245, सफदरजंग एन्कलेव, नई दिल्ली-110029

यह ताजा अंक वास्तव में ही एक ताजगी दे गया। साज सज्जा तथा पत्रिका के कलेवर ने बहुत प्रभावित किया। मुख पृष्ठ पर राजा रवि वर्मा की कलाकृति तथा बीच में "नर्तकियां" पोस्टर ने पत्रिका में चार चाँद लगा दिए। पत्रिका के बीच दिए गये आकर्षक चित्रों के साथ सामग्री भी पठनीय है। 1857 के सम्बन्ध में जानकारी के अतिरिक्त कला तथा संस्कृति पर लेख बहुत उपयोगी है। एक सरकारी पत्रिका को इतने सुरूचिपूर्ण ढंग से निकालने पर बधाई, वरना सरकारी पत्रिकाएं रामभरोसे ही चलती हैं।

सुदर्शन वशिष्ठ, उपाध्यक्ष, हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला-170009 हिमाचल प्रदेश

वस्तुत: संस्कृति न केवल संस्कृति मंत्रालय का मुख पत्र है अपितु सही अर्थों में भारतीय संस्कृति का एक समृद्ध झरोखा है। सर्वप्रथम आपका संपादकीय पढ़ा

और "संस्कृति" शब्द को ले कर अपनी ऊहापोह और विचार-सारणी से प्रभावित हुआ। पत्रिका का स्वरूप प्रस्तुति (गेट-अप) और सामग्री चयन में सरकारी पत्रिकाओं से एकदम हटकर है। मेरा साधुवाद और बधाइयाँ स्वीकारें।

डॉ. पुष्पपाल सिंह, 63,कैसर बाग, निकट एन आई एस, पटियाला-147001

संस्कृति पत्रिका के नवीनतम अंक का कलेवर सुकल्पित, ललित, मनोहर एवं सौष्ठवपूर्ण है। पोस्टर प्रस्तुति आकर्षक, अभिराम, कलात्मक एवं संग्रहनीय है। प्रस्तुत सामग्री रोचक, पठनीय, स्तरीय एवं संचनीय है।

आठवें विश्व हिन्दी सम्मेलन में हिन्दी प्रदर्शनी की रपट, भीम बैठका के शैल चित्रों की जानकारी, फोर्ट विलियम कॉलेज संग्रह एवं निज़ाम के आभूषणों के बारे में शोधपूर्ण वक्तव्य, 'प्राचीन भारत में वनस्पति' एवं महक रही फुलवारी हमारी' में वनस्पति एवं उद्यान कला का विवरण तथा मोहिनी हिंगोरानी, डॉ. सैय्यद हसन मुज्तबा रिजवी, डॉ. कृष्ण दत्त पालीवाल एवं सेवानिवृत्त एयर वाइस मार्शल विश्व मोहन तिवारी के भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से संबंधित लेख आदि सामग्री विशेष रूप से अवधारणीय, उल्लेखनीय, विचारणीय एवं मननीय है। पत्रिका का संपादन अकृपण प्रशंसा के योग्य है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन, 123, हरि एन्कलेव, चांदपुर रोड,, बुलन्द शहर-203001

विशेषकर आवरण-मुख्य और अन्तिम आवरण, सौन्दर्य के शील और शील के सौन्दर्य से अदभुत बन पड़े हैं और चित्रों की यही गरिमा इस संयुक्तांक के लेखों में भी स्थिर है। अँक मिलते ही, इसके कई लेखों को एक सुर में पढ़ गया। डॉ. सैयद हसन मुजतबा रिजवी, विजय वर्मा, डॉ. महावीर शरण जैन और अरूण कुमार के लेख, इस अंक में राजा रवि वर्मा तथा हेमेन मजूमदार के चित्रों की तरह बांधने वाले और स्थायी मूल्यों के है। डॉ. रिजवी, डॉ. जान और अरूण कुमार के लेख अपनी प्रासंगिकता को लेकर भी अत्यधिक महत्व के हैं। लेखों की भाषा और संयम ''संस्कृति" के अनुकूल है।

वैसे अन्य लेख भी प्रभावित करने वाले हैं। इनमें मृदुला सहाय का लेख ''प्राचीन भारत में वनस्पति", और डॉ. वन्दना वर्मा का ''भारतीय पर्व एवं लोककला-चित्रण" प्रमुख हैं। कोई शक नहीं कि इन लेखों में आये चित्र इनके आकर्षण में अदभुत ढंग से भूमिका निभाते हैं। सचमुच में यह तय करना कठिन हो जाता है कि आपके संपादन में प्रकाशित हो रही ''संस्कृति" इसमें ललित कला के प्रकाशित साहित्य सृजन को लेकर श्रेष्ठ हैं चित्रकला के सौष्ठव के कारण।

इसमें आपने नर्तकियों का जो पोस्टर प्रकाशित किया है, वह संयुक्तांक को विशेषांक की तरह बनाता है और जो भारतीय संस्कृति का एक जीवन्त रूप है। अनन्त बधाईयाँ।

डॉ. अमरेन्द्र, सम्पादक: बैखरी (सभा-पत्रिका), साल खां दरगाह लेन, सराय, भागलपुर-812002 बिहार

संस्कृति मंत्रालय द्वारा प्रकाशित अर्द्धवार्षिक पत्रिका ''संस्कृति" संयुक्तांक 2007, पाठकों को पुस्तकालय के अभाव ग्रस्त संसाधनों के बीच उपलब्ध कराया गया, जिसे उनके द्वारा खूब सराहा गया।

राजेश निगम, जिला ग्रन्थयान, शासकीय जिला ग्रन्थालय, शहडोल मध्य प्रदेश

''संस्कृति" का संयुक्तांक 2007 दोहरी खुशी दे गया। आवरण पृष्ठ पर राजा रवि वर्मा का संस्कृति सम्पन्न तैल चित्र मोहक व प्रेरक है। हाथ में फल लिए नारी का यह चित्र जब और जहाँ प्रकाशित होता है अपनी ओर सहज ही खींच लेता है। हमारी मजबूत सांस्कृतिक विरासत की अनन्तक पत्रिका के मध्य भाग में नर्तकियों का चित्र (टिल्ली केटल) लेख जीवन के आनन्दोत्सव की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। आलेख एक पर एक जानदार व शानदार हैं। तटयात्मक जानकारी देने वाले और संस्कृति के प्रति रूचि व जागरूकता उत्पन्न करने वाले हैं।

दूसरी खुशी! श्री बालकवि बैरागी और डॉ. केशव फालके के पते डायरी सहित मेरी आँखों से ओझल हो गए थे, वे संस्कृति के बिना प्रयास ही मिल गए। लेखकों और आपको पुन: बधाई। एक सुझाव भी, संस्कृति का एक विशेषांक ''सौ वर्ष की सांस्कृतिक यात्रा" पर केन्द्रित हो तो पत्रिका की ऐतिहासिक महत्ता और भी बढ़ जाएगी।

डॉ. बी आर धर्मेन्द्र, 559, तीसरी गली, माता मन्दिर मार्ग,, मौजपुर, दिल्ली-110053

''संस्कृति" पत्रिका निश्चय ही संस्कृति मंत्रालय द्वारा प्रकाशित भारतीय संस्कृति के वैविध्य एवं वैभव की विलक्षण संपदा की जानकारी एवं उसकी अनूठी समृद्धि को रेखांकित और विश्लेषण करने वाली पत्रिका है- एक बेहद, अनिवार्य पत्रिका। संभवत: अपने ढंग की अकेली। संस्कृति का प्रत्येक अंक संजोकर रखने के लायक है तथा हमारे घर के बड़े होते बच्चे अपनी सांस्कृतिक विरासत को समझ ही न सकें- उसे संस्कार रूप में ग्रहण भी कर सकें।

कलाकृति के पृष्ठ को तो हमने मढ़वा कर अपनी बैठक की शोभा बढ़ाई है। बच्चे परिवर्तित हो रहे हैं हमारी कला विरासत से पिछले अंक में ''नर्तकियां" (1740) की कला कृति ने तो मोह लिया। ''संस्कृति" के प्रकाशन के लिए आपको शतश: धन्यवाद। इसे प्रकाशित करते रहें।

चित्रा मुदगल, बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091

संस्कृति मंत्रालय द्वारा प्रकाशित ''संस्कृति'' पत्रिका वास्तव में ही भारतीय संस्कृति की पराकाष्ठा को लक्षित करती है। विभिन्न लेखों के साथ-साथ अद्भुत और दुर्लभ चित्रों का प्रकाशन इसे सार्थकता प्रदान करता है। कला भी भारतीय संस्कृति का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। इसलिए पत्रिका में प्रकाशित चित्रों ने लेखों को अधिक प्रभावशाली बना दिया है। संस्कृति मंत्रालय की ''अतुल्य भारत'' की अवधारणा इस पत्रिका के प्रत्येक पृष्ठ से झाँकती दिखाई देती है। सम्पादकीय में संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध जो विशेष टिप्पणी दी गई हैं वह इस अंक की भूमिका के रूप में पाठकों को इस विषय में अधिक जानने के लिए प्रेरित करती है। भारतीय संस्कृति की विराट चेतना को यह प्रत्रिका अभिव्यक्त कर पाने में समर्थ है। इसके लिए आपको एवं मंत्रालय को हार्दिक बधाई।

हरीश अरोड़ा, प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, पी जी डी ए बी कालेज (सांध्य), नेहरू नगर, नई दिल्ली-110 065

''संस्कृति'' भारतीय संस्कृति की विविधता एवं विशालता की प्रतीक है। सुरुचिपूर्ण एवं ज्ञानवर्धक रचनाओं के कारण इसका प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है।

सुभाष भुटानी, सेवानिवृत्त वरिष्ठ भाषान्तरकार, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली

देखने और पढ़ने का सुख

राष्ट्रीय सहारा, नई दिल्ली, रविवार, 24 फरवरी 2008

विहंगावलोकन/ सुरेश सलिल

देखना और पढ़ना, इन दोनों क्रियाओं के पारस्परिक संबंध सुज्ञात हैं। अक्षरों, शब्दों को देखकर ही पढ़ने की क्रिया संभव हो पाती है। बेशक नए अनुसंधानों ने दृष्टिहीनों के लिए छूकर अक्षर पहचानने और पढ़ने वाली ब्रेल लिपि सुलभ कर दी है लेकिन ये दोनों क्रियाएं एक साथ इसलिए याद आ रही हैं कि इन्हें सटीक अर्थ देने वाली एक पत्रिका मेरे सामने है। संस्कृति मंत्रालय से छमाही आवृत्ति में निकलने वाली मोहिनी हिंगोरानी द्वारा संपादित पत्रिका 'संस्कृति' उक्त दोनों क्रियाओं के साथ पाठक के हाथों में जाती है।

मुख्य आवरण पर राजा रवि वर्मा की तूलिका का सम्मोहक जादू, अंतिम आवरण पर हेमेन मजूमदार की नयनाभिराम कलाकृति, मुख्य भीतरी आवरण पर दि एशियाटिक सोसाइटी कोलकाता के संस्थापक और संस्कृत भाषा साहित्य के शीर्ष अंग्रेज विद्वान विलियम्स जोंस की छवि का मूर्तिशिल्प और अंतिम भीतरी आवरण पर दशावतारी गंजीफा की दुर्लभ प्रतिकृति। अंदर के पृष्ठों के मध्य अठारहवीं सदी के विदेशी कलाकार टिल्ली कैटल की 'भारतीय नर्तकियां' शीर्षक कलाकृति का दुर्लभ और संग्रहणीय पोस्टर।

लगभग किसी कलादीर्घा में जाने की तृप्ति से आप्लावित जब हम पत्रिका के नए अंक के भीतरी पृष्ठों तक पहुंचते हैं तो देखने के साथ पढ़ने की क्रिया अनायास आ जुड़ती है। पुरातत्व, इतिहास, संस्कृति, भाषा-साहित्य, कला, लोकरंजन के झरोखे खोलती पत्रिका के इस अंक को पाठ्य-सामग्री पढ़ने और देखने का एक अलग संतोष देती है। डॉ. सैयद हसन मुज्तबा रिजवी का शोधपूर्ण लेख (भारतीय संस्कृतिः धार्मिक सहिष्णुता की परिचायक) भाषा साहित्य के विकास के कुछेक अज्ञात तथ्य उद्घाटित करता है। यथा, 'हिंदी साहित्य में मुसलमानों का योगदान आरंभ हुआ गजनी के महमूद से, जिसने कलिंजर के चंदेल राजा को परास्त करने पर स्वयं के अभिनंदन में लिखी गई कविताओं के लेखकों को किले भेंट में दिये तथा सम्मान पत्र दिये।' यहीं मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल के जमालुद्दीन नक्काबी का उल्लेख भी है जिसने संस्कृत की 52 कथाओं के आधार पर फारसी में 'तूतीनामा' की रचना की। इस लेख में यह भी दर्शाया गया है कि मुस्लिम शासनकाल में हिंदी की अधिकांश रचनाएं अरबी लिपि में लिखी गई हैं। वहां मुंशी सुजानराय द्वारा सन 1695 में लिखी गई इतिहास की पुस्तक 'खुलासतल तवारीख' का उल्लेख भी हुआ है, जो फारसी भाषा में है। लेखक के अनुसार,. 'देवनागरी लिपि में लिखित आधुनिक भाषा का प्रादुर्भाव हुआ 19वीं शताब्दी में, जो हिंदू पुनरुत्थान की ओर एक सजग प्रयत्न था।' यहां लेखक ने मुगल साम्राज्य के एक राज्यपाल अलीमर्दान खान का हवाला भी दिया है, जिसने 17वीं सदी में फारसी भाषा में शिवस्तुति की रचना की, जिसका पहला शेर इस प्रकार है, 'हुमा असले महेश्वर बूद शब शाहे कि मन दीदम/गजनफर धर्म दर वार बूद, शब शाहे कि मन दीदम।' (एक रात मैंने साक्षात महेश्वर को देखा, जो बाघ के चमड़े का वस्त्र धारण किये हुए थे) इसी स्तुति का एक और शेर, 'अजब संन्यासे दीमम नमो नारायण गुफ्तम/व खाके पाए बोसीदम, शब शाहे कि मन दीदम' (इस प्रकार मैंने एक विचित्र संन्यासी के दर्शन किये। मैंने उन्हें नमो नारायण कहा और उनकी चरण रज को चूमा।) इसी क्रम में प्रो. महावीर सरन जैन के लेख 'हिंदी-उर्दू अद्वैत' की ओर ध्यान जाता है। प्रोफेसर जैन जब रोमानिया की राजधानी बुकारेस्त में हिंदी पढ़ाने के लिए गये थे, तो वहां तैनात पाकिस्तान के तत्कालीन राजदूत श्री रब्बानी से हिंदू-उर्दू की एकरूपता पर एक लंबी बातचीत हुई थी। उसे ही एक संस्मरण के रूप में लिपिबद्ध करके लेखक ने दोनों भाषाओं के गंगा-जमुनी रिश्ते पर विस्तृत तथ्यों की रोशनी में व्यापक रूप से विचार किया है। इन दोनों लेखों के साथ, विजुअल्स के बतौर, मंझन की कलाकृति 'मधुमालती' और सैयद गुलाम की नबी बिलग्रामी 'रसलीन' की काव्यकृतियों 'अंग दर्पण' व 'रस प्रबोध' की प्राचीन प्रतियों के कुछेक पृष्ठों के छायाचित्र भी दिये गये हैं, जो दोनों लिपियों में हैं और चित्रांकित हैं। ये छायाचित्र रायपुर की रजा लाइब्रेरी से हासिल किये गये हैं। यहां फोर्ट विलियम कॉलेज के संग्रह की उन दुर्लभ पांडुलिपियों के विस्तृत विवरण देता डॉ. मुहम्मद इरफान का लेख भी द्रष्टव्य है, जो राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है और विलियम जोंस के व्यक्तित्व-कृतित्व पर जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुंद' का लेख भी। पुरातात्विक संदर्भों में डॉ. हीरो ठाकुर (सिंधु घाटी सभ्यता की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि), डॉ. नारायण व्यास (भीम बैठका के शैलचित्र तथा पुरातात्वीय उत्खनन) एवं डॉ. बृजेश कुमार (पाषाण कलाकृतियों की संरचना एवं संरक्षण) के गंभीर विवेचनात्मक लेख भी दुर्लभ-विजुअल्स के साथ पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। 1857 की डेढ़ सौवीं वर्षगांठ को रेखांकित करते हुए भी तीन लेख यहां दिये गये हैं। रेवाड़ी (हरियाणा) के महान स्वाधीनता सेनानी राव राजा तुलाराम के विचारलोक और कार्यों की जानकारी देता प्रो केसी यादव का लेख तो महत्वपूर्ण है ही, बहादुरशाह जफर के व्यक्तित्व और सत्तावनी संग्राम में उनके योगदान पर रोशनी डालता डॉ दरख्शां ताजवर का लेख इस दृष्टि से गौरतलब माना जाएगा कि यह 'सर-गुजिश्ते देहली' नाम के उस दुर्लभ-संदर्भ स्रोत पर आधारित है, जिसे लालकिले में घुसपैठ करके और बादशाह का विश्वास हासिल करके अंग्रेजों के जासूस जीवनलाल ने लिखा था। इस लेख में, 1857 में जफर की भूमिका अलग तरह से सामने आती है, जो अन्य इतिहास स्रोत से कई अर्थों मे मौलिक हैं। डॉ. अरुण कुमार का लेख 'लोक साहित्य और 1857' अपने शोधपरक स्वभाव के कारण उल्लेखनीय माना जाना चाहिए। इन कतिपय लेखों के अतिरिक्त भी पत्रिका के इस अंक में काफी वैविध्यतापूर्ण पाठ्य एवं दृश्य सामग्री है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है, सरकारी संस्थानों से जिस तरह की 'रट इन दि मिल' स्वभाव की चीजें प्रायः सामने आती हैं, उनकी तुलना में 'संस्कृति' अगर निर्विवाद रूप से साथ-साथ पठनीय-दर्शनीय और संग्रणीय बन सकी हैं, तो इसकी वजह संपादकीय दृष्टि, कल्पनाशीलता और उस समर्पण भावना में है, जो आज प्रायः दुर्लभ हो गई है। इस अंक के संपादकीय आलेख में 'संस्कृति' की जो अवधारणा विकसित की गई है, वह भी इसकी पुष्टि करती है।(**'संस्कृति' (संयुक्तांक 13-14, वर्ष 2007), संपा. मोहिनी हिंगोरानी, संपर्क : 322, सी.विंग, शास्त्री भवन, डॉ. राजेंद्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-11, मूल्य का उल्लेख नहीं।**)

Printed at India Offset Press, New Delhi-110064 (M) 9811526314